श्री समन्तभद्राचार्यविरचित

युक्त्यनुशासनम्

[विस्तृत हिन्दी विवेचन सहित]

(उत्तरार्ध)

विवेचक–

पं० मूलचन्दजी शास्त्री

(मालथौन निवासी)

सम्पादक–

क्षुल्लक श्री शीतलसागरजी

(आ. श्री महावीर कीर्तिजी के शिष्य)

प्रस्तावना लेखक:—

प्रो० डा० श्री दरबारीलालजी जैन न्यायाचार्य

एम० ए०, पी-एच० डी०

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय–वाराणसी

प्रकाशक—

श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय

सांगानेर (जयपुर-राज०)

मूल्य—

एक रुपया [डाक व्यय सहित]

वीर नि० सं० २४९५

विक्रम सं० २०२६

सितम्बर १९६९

सर्व प्रथम

१००० प्रति

मुद्रक:—

श्री वीर प्रेस

मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३

आद्य वक्तव्य

दो हजार वर्ष पूर्व श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य एक अद्वितीय कोटि के दार्शनिक विद्वान् हो चुके हैं। अनेक बड़े बड़े दिग्गज आचार्यों ने आपके विषय में बहुत कुछ लिखा है। आपके विषय की सम्पूर्ण जानकारी प्रकाश में आ चुकी है।

प्रस्तुत महाशास्त्र, श्री वीरप्रभु की स्तुति रूप में स्वामीजी द्वारा ही रचा गया है। इसकी श्री विद्यानंदी आचार्य विरचित संस्कृत टीका भी पाई जाती है जो कि प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत विस्तृत हिन्दी विवेचन, मालथौन निवासी श्रीपंडित मूलचन्द्रजी शास्त्री ने इसी को आधार मानकर लिखा है। पंडितजी ने इसे लिखकर एक महान् कार्य किया है। अभी तक इस ग्रन्थ के रहस्य को समझने वाले विरले ही थे। परन्तु पंडितजी द्वारा सरल हिन्दी अनुवाद लिखा जाने से अब इसका रहस्य प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति की समझ में आने लगेगा।

पंडितजी ने स्थान स्थान पर विषय को खूब स्पष्ट किया है। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल रचयिता द्वारा रचित आप्त-मीमांसा (देवागम स्तोत्र) नामक महाशास्त्र का भी विस्तृत हिन्दी विवेचन लिखा है जो कि शास्त्राकार छप रहा है। संभव है दीपमालिका तक पाठक उससे लाभान्वित हो सकें।

प्रस्तुत टीका पंडितजी ने चौबीस वर्ष पहले श्री अतिशय क्षेत्र महावीर कमेटी की देख रेख में लिखी थी। समाज के

सौभाग्य से उसका पूर्वार्ध पौने दो वर्ष पहले प्रकाश में आया और अब यह उत्तरार्ध भी प्रकाश में आ गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के हस्तलिखित पन्ने, सात वर्ष पहिले लाडनूं चातुर्मास में ब्र० पं० श्रीलालजो काव्यतीर्थ द्वारा प्राप्त हुये थे। उसी समय हमने एक प्रेस कापी तैयार करली और यह भावना रही कि यह ग्रन्थ प्रकाश में आवे। समाज के सौभाग्य से वह भावना अब पूर्ण हुई है।

श्री वीर प्रेस के मालिक श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ ने इसके प्रकाशन व प्रूफ संशोधनादि में काफी सहयोग दिया है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

साथ ही प्रो० डा० श्री दरबारीलालजी न्यायाचार्य, एम. ए., पी-एच. डी. विशेष धन्यवाद के पात्र हैं कि जिन्होंने अपने अमूल्य समय में से अवसर निकाल कर प्रस्तावना लिख भेजने का कष्ट किया है। आपने प्रस्तावना में सम्पूर्ण ग्रन्थ के मर्म को बड़ी अच्छी तरह लाकर रक्खा है। पाठकों से निवेदन है कि वे ग्रन्थ के पढ़ने से पहिले इस प्रस्तावना को आद्योपान्त अवश्य पढ़ेंगे।

जिन दातारों के सद्द्रव्य से इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है वे, और वर्तमान में सत्साहित्य के प्रकाश में विशेष रुचि लेने वाले अमीरगंज, टोंक (राज०) के दिगम्बर जैन सज्जन धन्य-वाद के पात्र हैं ही।

—क्षुल्लक शीतलसागर

(आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी के शिष्य)

प्रस्तावना

युक्त्यनुशासन और समन्तभद्र

१. युक्त्यनुशासन

(क) नाम

इस महत्त्वपूर्ण कृतिका नाम 'युक्त्यनुशासन' है। टीकाकार आचार्य विद्यानन्दने अपनी टीकाके आरम्भ, मध्य और अन्तमें इसका इसी नामसे उल्लेख किया है। आदिवाक्यमें,[1] जो मङ्गलाचरण या जयकारपद्यके रूपमें है, समन्तभद्रके इस स्तोत्रका जयकार करते हुए उन्होंने इसका नाम स्पष्टतया 'युक्त्यनुशासन' प्रकट किया है। कारिका ३९ की टीका-समाप्तिपर, जहाँ प्रथम प्रस्ताव पूर्ण हुआ है और जो प्रायः ग्रन्थका मध्य भाग है, एक पद्य[2] तथा पुष्पिका-वाक्यमें[3] भी विद्यानन्दने प्रस्तुत स्तोत्रका नाम 'युक्त्यनुशासन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त टीकाके अन्तमें दिये गये दो समाप्ति-पद्योंमें-से दूसरे पद्यमें[4] और टीकासमाप्ति-पुष्पिकावाक्यमें[5] स्वामी समन्तभद्रकी कृतिके रूपमें इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम स्पष्टतः निर्दिष्ट है।

---

१. प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितम्।
जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्॥
—युक्त्य० टी० पृ० १, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

२. स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः।
—वही, पृ० ८९।

३. इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः।
—वही, पृ० ८९।

४. प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः।
—वही, पृ० १८२।

५. इति श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतौ युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः।
—वही, पृ० १८२।

हरिवंशपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन[1] (वि० सं० ८४०) ने भी अपने इसी पुराणके आरम्भमे पूर्ववर्ती आचार्योंके गुणवर्णन-सन्दर्भमें समन्तभद्रकी एक कृतिका नाम 'युक्त्यनुशासन' दिया है और उन्हें उसका कर्ता कहा है। आश्चर्य नहीं, उनकी वह 'युक्त्यनुशासन' नामसे उल्लिखित कृति प्रस्तुत कृति ही हो।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रके लिए भी इष्ट है या नहीं ? यदि इष्ट है तो उन्होंने ग्रन्थके आदि अथवा अन्तमें वह नाम निर्दिष्ट क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है। यद्यपि उन्होंने वह नाम ग्रन्थके न आरम्भमें दिया है और न अन्तमें, तथापि ग्रन्थके मध्यमें वह नाम उपलब्ध है। कारिका ४८ में[2] समन्तभद्रने 'युक्त्यनुशासन' पदका प्रयोग करके उसकी सार्थकता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने बतलाया है कि 'युक्त्यनुशासन वह शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक है। अर्थात् युक्ति (हेतु), जो प्रत्यक्ष और आगमके विरुद्ध नहीं हैं, पूर्वक तत्त्व (वस्तुस्वरूप) की व्यवस्था करनेवाले शास्त्रका नाम युक्त्यनुशासन है।' जो अर्थप्ररूपण प्रत्यक्षविरुद्ध अथवा आगमविरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं है। साध्याविनाभावी साधनसे होनेवाला साध्यार्थ (अभिप्रेत अनुमेयार्थ) प्ररूपण युक्त्यनुशासन है।[3] युक्त्यनुशासनको यह परिभाषा प्रस्तुत ग्रन्थमें पूर्णतया पायी जाती है। अपनी इस परिभाषाके समर्थनमें समन्तभद्रने[4] एक उदाहरण भी उपस्थित किया है। वह इस प्रकार है—'अर्थरूप (वस्तुस्वरूप) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन

१. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।

—हरि० पु० १-३०, भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

२. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।

३. तथा चान्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति प्रकाशितं भवति, दृष्टागमाभ्यामविरोधस्यान्यथानुपपत्तेरिति देवागमादौ निर्णीतप्रायम्।

—युक्त्य० टी० पृ० १२२, १२३; विद्यानन्द।

४. युक्त्य० का० ४८।

तीनोंको प्रतिसमय लिए हुए ही तत्त्वतः व्यवस्थित होता है, क्योंकि वह सत् है।' इस उदाहरणमें जिस प्रकार वस्तुका स्वरूप उत्पादादित्रयात्मक युक्ति (हेतु) पुरस्सर सिद्ध किया गया है उसी प्रकार वीर-शासनमें समग्र अर्थसमूह प्रत्यक्ष और आगमाविरोधी युक्तियोंसे सिद्ध है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष और आगमसे अबाधित तथा प्रमाण और नयसे निर्णीत अर्थप्ररूपण वीरशासनमें ही उपलब्ध होता है और उसी प्रकारका अर्थप्ररूपण समन्त-भद्रने प्रस्तुत 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें किया है। अत: प्रत्यक्ष और आगमा-विरुद्ध अर्थ (तत्त्व) का प्ररूपण होनेसे वीरशासन युक्त्यनुशासन है और वीर-शासनका ही इस ग्रन्थमें प्ररूपण होनेसे इसे 'युक्त्यनुशासन' नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। और वह उक्त प्रकारसे समन्तभद्र-अभिहित ही है।

परवर्ती विद्यानन्द, जिनसेन (हरिवंशपुराणकार) जैसे मूर्धन्य ग्रन्थ-कारोंने समन्तभद्रद्वारा दत्त नामसे ही इसका उल्लेख किया है। उन्होंने स्वयं वह नाम कल्पित नहीं किया।

एक प्रश्न और यहाँ उठ सकता है। वह यह कि यदि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है तो उसे उन्होंने ग्रन्थके आदि अथवा अन्तमें ही क्यों नहीं दिया, जैसा कि दूसरे ग्रन्थकारोंकी भी परम्परा है? समन्तभद्रने स्वयं अपने अन्य ग्रन्थोंके नाम या तो उनके आदिमें दिये हैं और या अन्तमें। देवागम (आप्तमीमांसा) में उसका नाम आदिमें देवागम और अन्तमें आप्तमीमांसा निर्दिष्ट है। स्वयम्भूस्तोत्रमे उसका नाम आरम्भमे 'स्वयम्भुवा' (स्वयम्भू) के रूपमे पाया जाता है। इसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उसका नाम उसके अन्तिम पद्यमें आये'.....रत्नकरण्डभावं' पदके द्वारा प्रकट किया है। परन्तु प्रस्तुत युक्त्यनुशासनमें ऐसा कुछ नहीं है?

इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका नाम उसके आदि और अन्तकी तरह मध्यमें भी देते हुए मिलते हैं। उदाहरणके लिए विषा-पहारकार धनञ्जयको लिया जा सकता है। धनञ्जयने अपने स्तोत्र 'विषा-

'पहार' का नाम न उसके आरम्भमें दिया और न अन्तमें। किन्तु स्तोत्रके मध्यमें एक पद्यमें[1] प्रकट किया है, जिसमें 'विषापहार' पद आया है और उसके द्वारा स्तोत्रका नाम 'विषापहार' बतलाया है। इसी प्रकार समन्तभद्रने इस ग्रन्थके मध्यमें आये 'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' (का० ४८) इस कारिकावाक्यमें प्रयुक्त 'युक्त्यनुशासन' पदसे इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम अभिहित किया है। फलतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंमें इसका यही नाम विश्रुत हुआ है और उन्होंने इसी नामसे अपने ग्रन्थोंमें निर्देश किया है। अतः इसका मूल नाम 'युक्त्यनुशासन' (युक्तिशास्त्र) है।

मूल ग्रन्थ और उसकी विद्यानन्द-रचित संस्कृत-टीकापरसे इसके अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। वे हैं—वीरस्तुति, वीरस्तोत्र, परमेष्ठि-स्तोत्र और परमात्म-स्तोत्र। '····स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं' (का० १) इससे 'वीर-स्तुति', 'न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ' (का० ६४) और 'स्तुतः शक्त्या····वीरो' (का० ६५) इन पदोंसे तथा 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः' (टी० पृ० ८९) इस टीका-पद्यसे 'वीर-स्तोत्र', 'इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठि-स्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः' (टी० पृ० ८९) इस मध्यवर्ती टीका-पुष्पिका-वाक्यसे 'परमेष्ठि-स्तोत्र' और 'श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे युक्त्यनुशासने प्रयोजकत्वात्' (टी० पृ० १७८) इस टीका-वाक्यसे 'परमात्म-स्तोत्र' ये चार नाम फलित होते हैं। वस्तुतः समन्तभद्रने इसमें भगवान् वीर और उनके शासनका गुणस्तवन किया है। अतः इसके ये नाम भी सार्थक होनेसे फलित हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। ग्रन्थकी प्रकृति उन्हें स्पष्टतया बतलाती है।

(ख) नामपर प्रभाव

लगता है कि समन्तभद्रने इसकी रचना नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिकासे

---

१. विषापहारं मणिमौषधानि मंत्रं समुद्दिश्य रसायनं च'।

—विषाप० स्तोत्र श्लो० १४।

प्रेरित होकर की है। युक्तिषष्ठिका[1] इकसठ पद्योंकी बौद्ध दार्शनिक कृति है। इसमें नागार्जुनने, जो माध्यमिक (शून्याद्वैत) सम्प्रदायके प्रभावशाली विद्वान् हैं, भाव, अभाव आदिरूपसे तत्त्वका निरास करके शून्याद्वैतकी सम्पुष्टि की है। युक्त्यनुशासनमें चौंसठ पद्य हैं और उनमें भाव, अभाव आदि अनेकान्तात्मक वस्तुकी स्याद्वादद्वारा व्यवस्था की गयी है। अतएव युक्त्यनुशासन नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिकाके उत्तरमें लिखा गया प्रतीत होता है। युक्तिशब्दसे आरम्भ कर रचे जानेवाले ग्रन्थोंके निर्माणकी परम्परा उत्तरकालवर्ती दार्शनिकोंमें भी रही है। फलतः युक्तिदीपिका (सांख्य-कारिका-व्याख्या) जैसे ग्रन्थ उत्तरकालमें विरचित हुए हैं।

यहाँ उल्लेख्य है कि लंकावतार-सूत्रपद्यकारने[2] बुद्धके सिद्धान्त (देशना) को 'चतुर्विधो नयविधिः सिद्धान्तं युक्तिदेशना। (श्लो० २४६)' शब्दों द्वारा 'युक्तिदेशना' प्रतिपादित किया है। समन्तभद्रने वर्द्धमान-वीरके सिद्धान्त (तत्त्वोपदेश) को 'युक्त्यनुशासन' कहा है। अतः असम्भव नहीं, युक्त्यनुशासन युक्तिदेशनाका भी जवाब हो, क्योंकि दोनोंका अर्थ प्रायः एक ही है, जो 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' के रूपमें कहा जा सकता है। अन्तर यही है कि लंकावतारसूत्रपद्यकार बुद्धके उपदेशको 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' कहते हैं और समन्तभद्र वीरके उपदेशको। समन्तभद्र इतना विशेष कहते

---

१. १० फरवरी १९४७ में शान्तिनिकेतनके शोधकर्ता श्री रामसिंह तोमर द्वारा युक्तिषष्ठिकाके १ से ४० संख्यक पद्योंमेंसे केवल भिन्न संख्यावाले २३ पद्य प्राप्त हुए थे। उनसे ज्ञात हुआ था कि चीनी भाषामें जो युक्तिषष्ठिका उपलब्ध है उसपरसे ही उक्त पद्य संस्कृतमें अनूदित हो सके हैं, शेषका अनुवाद अभी नहीं हुआ है। क्रम-बद्ध पद्य-संख्या होनेपर भी 'षष्ठिका' कहा जा सकता है। विंशतिका, त्रिंशतिका आदि नामोंसे रची जानेवाली रचनाओंमें क्रम-बद्ध श्लोक होनेपर भी वे उन नामोंसे अभिहित हुई हैं।

२. लंकावतारसूत्रपद्यभागकी एक दुर्लभ प्रति, जो खण्डित जान पड़ती है, ३० मार्च ४३ में प्राप्त हुई थी, उसीसे इन पद्योंको हमने अपनी नोटबुकमें लिखा था।

है कि उस युक्तिपुरस्सर उपदेशको प्रत्यक्ष और आगमसे अबाधित भी होना चाहिए, मात्र युक्तिबलपर ही उसे टिका नहीं होना चाहिए।

(ग) ग्रन्थ-परिचय

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, युक्त्यनुशासन ६४ पद्योंकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रचना है। देवागममें[1] युक्तिपूर्वक आप्त और आप्तके शासन (उपदेश) की मीमांसा करके वह आप्त वीरको और आप्त-शासन वीर-शासनको सिद्ध किया है तथा अन्योंको अनाप्त (आप्ताभास) और उनके शासनों (उपदेशों) को अनाप्तशासन बतलाया है। इस मीमांसा (परीक्षा) की कसौटीपर कसे जाने और सत्य प्रमाणित होनेके उपरान्त वीर और उनके स्याद्वाद-शासनकी स्तुति (गुणाख्यान) करनेके उद्देश्यसे समन्तभद्रने इस युक्त्यनुशासनकी रचना की है। यह उन्होंने स्वयं प्रथम कारिकाके[2] द्वारा व्यक्त किया है। उसमें प्रयुक्त 'अद्य' पद तो, जिसका विद्यानन्दने[3] 'परीक्षाके अन्तमें' यह अर्थ किया है, सारी स्थितिको स्पष्ट कर देता है।

टीकाके अनुसार यह ग्रन्थ दो प्रस्तावोंमें विभक्त है। पहला प्रस्ताव[4] कारिका १ से लेकर ३९ तक है और दूसरा कारिका ४० से ६४ तक।

---

१. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥
—देवाग० का० ६,७, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट-प्रकाशन, वाराणसी।

२. कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम्।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम् ॥
—युक्त्य० का० १।

३. 'अथास्मिन् काले परीक्षावसानसमये'।
—युक्त्य० टी० पृ० १।

४. इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः।
—युक्त्य० टी० पृ० ८९; का० ३९।

यद्यपि ग्रन्थके अन्तमें पहले प्रस्तावकी तरह दूसरे प्रस्तावका नाम-निर्देश नहीं है, व्याख्याकारने 'इति श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतौ युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः' इस समाप्ति-पुष्पिकावाक्यके साथ ग्रन्थको समाप्त किया है, तथापि ग्रन्थके मध्य (का० ३९) में जब टीकाकार द्वारा स्पष्टतया प्रथम प्रस्तावकी समाप्तिका उल्लेख किया गया है तो शेषांश द्वितीय प्रस्ताव सुतरां सिद्ध हो जाता है। तथा शेषांशके बीचमें किसी अन्य प्रस्तावकी कल्पना है नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तावोंका यह विभाजन मूलकारकृत है या व्याख्याकारकृत ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ग्रन्थकारने उनका निर्देश नही किया, तथापि ग्रन्थके अध्ययनसे अवगत होता है कि उक्त प्रस्ताव-विभाजन ग्रन्थकारको अभिप्रेत है, क्योंकि जिस कारिका (३९) पर व्याख्याकारने प्रथम प्रस्तावका विराम माना है वहाँ ग्रन्थकारकी विचार-धारा या प्रकरण पूर्वपक्षके रूपमें समाप्त है और कारिका ४० से ६४ तक उत्तरपक्ष। पूर्वपक्षमें एकान्तवादोंकी समीक्षा है और उत्तरपक्षमें अनेकान्त-वाद अर्थात् वीर-शासनका निरूपण। विद्यानन्दने ग्रन्थकारके इस अभिप्रायके अनुसार ही दो प्रस्तावोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। दोनोंका विषय-परिचय यहाँ प्रस्तुत है:—

१. प्रस्ताव—इसमें १-३९ कारिकाएँ हैं। पहली कारिकामें स्तुति-कारने देवागमके द्वारा सिद्ध निर्दोषता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इन तीन गुणोंसे विशिष्ट वर्द्धमान-वीरकी स्तुति करनेकी इच्छा अथवा प्रतिज्ञा की है।

दूसरीमें स्तुतिका स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि लोकमे उसे स्तुति कहा गया है जिसमें यथार्थताको लांघकर (चढ़ा-बढ़ाकर) गुणोत्कर्षाख्यान (प्रशंसा-गान) किया जाय। पर आप (वीरजिन) भूरि गुणोंके समुद्र हैं और हम (समन्तभद्र) उसके अणुके बराबर भी अंशको कहनेमें असमर्थ हैं। तब हम किस तरह आपकी स्तुति करनेके अधिकारी (स्तोता) हो सकते हैं ?

तीसरीमें उक्त प्रश्नके समाधानरूपमें प्रतिपादन किया है कि फिर भी धृष्टताका आलम्बन लेकर भक्तिवश अपनी शक्त्यनुसार आपके गुण-कथन द्वारा स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ। क्या उत्साही व्यक्ति दुर्लभ भी इष्ट वस्तुके प्राप्त करनेमें अपनी शक्तिके अनुसार नाना प्रयत्नोंसे उत्साहित (उत्साहयुक्त-प्रवृत्त) नहीं होते ? अर्थात् होते ही हैं।

चतुर्थ कारिकामें आगे उस गुणाख्यान (स्तुति) के रूपको सीमित शब्दोंमें व्यक्त करते हुए बतलाया है कि हे जिन ! आपने शुद्धि (ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयसे उद्भूत निर्मल ज्ञान-दर्शन) और शक्ति (अन्त-रायके अभावसे प्रकट अनन्तवीर्य) के उत्कर्षकी सीमाको, जो अनुपम तथा शान्तिरूप (मोहके नाशसे आविर्भूत प्रशम सुखात्मक) है, प्राप्त किया है। अतः आप ब्रह्म-पथ (मोक्षमार्ग) के नेता (शास्ता) हैं और इस लिए महान् (पूज्य—आप्त) हैं, इतना ही हम देवागममें उठायी उस शङ्काके उत्तररूपमें कह सकते हैं, जिसमें आपको देवागमादि विभूतियोंसे महान् नहीं माना गया है। पर इन गुणोंसे आप महान् माने जाने योग्य हैं।

पांचवींमें उस अन्तर्निहित प्रश्नका उत्तर है जिसमें कहा गया है कि जब वीरके महान् होनेसे उनका शासन भी महान् है तो उसका सार्वत्रिक (सभीपर) एकाधिपतित्व क्यों नहीं है—उसके प्रभावकी कमीका कारण क्या है ? समन्तभद्र इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह तथ्य है कि वीर-शासनमें सर्वातिशायि शक्ति (योग्यता) है, पर उसके सार्वत्रिक प्रभावकी कुण्ठाके दो कारण हैं—१. बाह्य और २. आभ्यन्तर। बाह्य कारण कलिकाल है और आभ्यन्तर कारण श्रोताका स्वच्छ अभिप्राय न होना तथा प्रवक्ताकी उक्त शासनके प्रवचनकी कुशलता न होना। इन दो कारणोंसे वीरका शासन सबके द्वारा ग्राह्य नहीं है।

छठी कारिकामें उक्त वीर-शासनको बतलाते हुए प्रतिपादन किया है कि हे जिन ! आपका मत (शासन) दया (अहिंसा), दम (इन्द्रिय और मनोनिग्रहरूप संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (ध्यान) का

मुख्यतया प्रश्रयदाता तथा नयों (सापेक्ष दृष्टियों) और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अर्थरूप (वस्तुतत्त्व) का यथार्थ निश्चायक है। साथ ही वह अन्य समस्त प्रवादों (एकान्तमतों) से अधृष्य (अजेय-अबाध्य) है। अत एव अद्वितीय है।

आगेकी कारिकाओंमें उन प्रवादोंकी समीक्षापूर्वक वीरशासनमें अभिमत वस्तुका स्वरूप विवेचित है।

सर्वप्रथम सातवीं कारिकामें भेद और अभेदके निरपेक्ष उभयवाद, सर्वथा अभेदवाद और सर्वथा भेदवादकी मीमांसा करते हुए बतलाया है कि हे वीर जिन ! आपके द्वारा प्रतिपादित वस्तुका स्वरूप अभेद (एक, द्रव्य, सामान्य, नित्य) और भेद (अनेक, पर्याय, विशेष, अनित्य) दोनों रूप हैं। स्वतन्त्र (निरपेक्ष) दोनों अथवा केवल अभेद या केवल भेदरूप वस्तु खपुष्पकी तरह असत् (सिद्ध नहीं होती) है। समवायसम्बन्ध किसी दूसरे समवायसम्बन्धसे सम्बन्धित न होनेसे भेद-अभेद (अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, सामान्यवान्-सामान्य, विशेषवान्-विशेष) का व्यवस्थापक नहीं हो सकता। फलतः समवाय व्यवस्थित न होनेपर संयोग, विशेषणविशेष्य, एकार्थसमवाय आदि सम्बन्धोंकी भी व्यवस्था न हो सकनेसे संसर्ग (समस्त सम्बन्धों) की हानि (अभाव) से उनके समस्त सम्बन्धियों—द्रव्य-गुणादि पदार्थोंकी भी हानि सुनिश्चित है। इसी प्रकार सर्वथा अभेदवाद (सांख्य-वेदान्तमत) और सर्वथा भेदवाद (बौद्धमत) भी निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि सर्वथा एकान्तमें बन्धादि असम्भव हैं।

कारिका ८—३४ में सांख्योंके अभेदवाद-नित्यवाद, सौत्रान्तिक बौद्धोंके भेदवाद-क्षणिकवाद, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके विज्ञानवाद और माध्यमिक बौद्धोंके शून्यवादकी विस्तृत एवं कड़ी समीक्षा करके उन्हें आठवीं कारिकामें उक्त 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' अपने इस कथनके अनुसार सब तरहसे सदोष सिद्ध किया है और फलित किया है कि छठी कारकामें जो

वीरके स्याद्वाद-शासनको निर्दोष एवं अद्वितीय बतलाया गया है वह युक्त है।

कारिका ३५-३६ में चार्वाकों (भौतिकवादियों) की उस प्रवृत्ति (मान्यता) की, जो 'शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टि'—'खाओ-पिओ और मजा-मौज उड़ाओरूप है और लोकको पतनकी ओर ले जाने वाली है, मीमांसा की गयी है।

कारिका ३७,३८ और ३९ मे प्रवृत्तिरक्त एवं शम-तुष्टिरिक्त मीमांसकोंकी उन अनाचारसमर्थक क्रियाओंकी आलोचना है जिनमें मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुन-सेवनको दोष न मानकर उनका खुले आम समर्थन किया है।[1] समन्तभद्र कहते हैं कि उक्त प्रवृत्तियाँ निश्चय ही लोकके पतनकी कारण हैं, क्योंकि जगत् स्वभावतः स्वच्छन्द वृत्ति है और उसे कहींसे समर्थन (असद् वृत्तियोंकी विधेयताका प्रोत्साहन) मिल जानेपर और अधिक स्वच्छन्द (स्वेच्छाचारी) हो जाता है। अतः इस तम (अज्ञानान्धकार) को दूर करनेके लिए शम, सन्तोष, संयम, दया और समाधिरूप वीर-शासन ही सुप्रभात है।

इस प्रकार संक्षेपमें इस प्रस्तावमें एकान्तमतोंको सदोष और अनेकान्तमत (वीरशासन) को निर्दोष युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन किया है। विस्तारपूर्वक इन दोनोंका कथन समन्तभद्रके देवागममें उपलब्ध है।

२. प्रस्ताव—इस प्रस्तावमे ४०-६४ तक २५ कारिकाएँ हैं। ४० से लेकर ६० वीं कारिका तक २१ कारिकाओंमें वीर-जिनके द्वारा प्ररूपित अर्थतत्त्व (वस्तुस्वरूप) का सयुक्तिक विवेचन किया गया है, जिसका संकेत 'अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं' (का० ७) इस कारिकामें उपलब्ध है। वस्तुतः इन कारिकाओंमें, वीर-शासनमें वस्तुका स्वरूप किस प्रकारका व्यवस्थित है, इसीका मुख्यतया प्रतिपादन है—एकान्तवादोंमें स्वीकृत वस्तुस्वरूपका

---

१. न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां······॥

—उद्धृत, युक्त्य० टी० पृ० ८३।

प्रदर्शन यहाँ गौण है—वह प्रथम प्रस्तावमें अभिहित हो चुका है। सामान्य और विशेष, एक और अनेक, द्रव्य और पर्याय, नित्य और अनित्य इन्हें जैन दर्शनमें किस रूपमें स्वीकार किया गया है? क्या सामान्यमें विशेष या विशेषोंमें सामान्य, एकमें अनेक या अनेकोंमें एक, द्रव्यमें पर्याय या पर्यायोंमें द्रव्य, नित्यमें अनित्य या अनित्योंमें नित्य निष्ठ (अनुस्यूत—रहता) है? इसका उत्तर कारिका ४० में देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि जितने विशेष हैं वे सब सामान्यमें निष्ठ हैं। यदि विशेषोंमें सामान्यको निष्ठ माना जाये तो किसी एक विशेषके अभाव होनेपर उसके सामान्यका भी अभाव प्रसक्त होगा, क्योंकि आधारके बिना आधेय नहीं टिक सकता। अन्य विशेष भी आने-जानेवाले होनेसे उनके अभावमें सामान्यकी स्थिति सम्भव नहीं है। यही न्याय द्रव्य-पर्याय आदिके विषयमें है।

विशेष सामान्यनिष्ठ क्यों हैं, इसका कारण यह है कि वक्ता जो पद प्रयोग करता है उसके द्वारा विवक्षित विशेषके अभिधानके साथ-साथ विशेषान्तरोंका सूचन होता हुआ उन (विशेषों) से आत्मभूत सामान्यका भी सूचन (प्रकाशन) होता है, क्योंकि वह विशेष अपने आत्मभूत अन्य विशेषों तथा आधारभूत सामान्यसे अविष्वग्भाव सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पद विवक्षित विशेषका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करता है और गौणरूपसे अन्य समस्त विशेषों एवं उनसे आत्मभूत सामान्यका सूचन करता है—उनका वह निषेध अथवा अस्वीकार नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पदका स्वभाव विवक्षित विशेषको कहते हुए उससे कथञ्चिद् अभिन्न सभी विशेषों और उनके आधारभूत सामान्यको भी, जो अविवक्षित हैं, गौणरूपसे सूचित करनेका है। विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्यकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष प्रतीत न होनेसे दोनों अवस्तु हैं, उन्हें पद बोधित नहीं करता। अतएव परस्पर निरपेक्ष उभय और दोनोंके सर्वथा निषेधरूप अनुभयको भी पद बोधित नहीं करता। किन्तु इन (सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा

उभय और सर्वथा अनुभय) से विलक्षण (जात्यन्तर) सामान्यविशेषात्मक, एकानेकात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक और नित्यानित्यात्मक वस्तुको पद मुख्य और गौणरूपसे प्रकाशित करता है और तभी वह सत्यकोटिमें आता है, क्योंकि प्रतिपत्ताको उस पदसे उसी प्रकारकी वस्तुमें प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है। अतः वक्ताका वचन (पद) विशेष सहित सामान्यका प्रकाशक होनेसे विशेषोंका आश्रय सामान्य है अर्थात् विशेष सामान्यनिष्ठ हैं।

अब प्रश्न है कि यदि प्रत्येक पद सामान्यविशेषात्मक वस्तुका प्रकाशक है तो श्रोताको अविवक्षितका परिहार करके विवक्षितकी ही प्रतिपत्ति कैसे होगी, क्योंकि आपकी दृष्टिसे पद किसीका व्यवच्छेदक नहीं है—वह सभी विशेषों और सामान्यका प्रकाशक है ? इसका उत्तर ग्रन्थकारने कारिका ४१, ४२, ४३ और ४४ में दिया है। वे कहते हैं कि वक्ता जब अपने अभिप्रेत अभिधेयका श्रोताको ज्ञान करानेके लिए पदका प्रयोग करता है तो उसका अभिप्राय उस पदप्रयोगसे श्रोताको अभिप्रेतका अवधारण करानेका होता है और इसलिए वह, विवक्षितका ही श्रोताको बोध हो, प्रत्येक पदके साथ अवधारणार्थक एवकार पदका भी प्रयोग करता है और उससे अस्वार्थ (अविवक्षित) का व्यवच्छेद करके स्वार्थ (विवक्षित) का बोध कराया जाता है। अतः स्याद्वाद-शासनमें प्रत्येक पद एवकार सहित होता है। यदि किसी पदके साथ वक्ता उसका प्रयोग नहीं करता है तो भी वह वहाँ सामर्थ्यसे अवश्य लभ्य रहता है जिसे समझदार श्रोता समझ लेता है। पर वह प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य रहता है।

एवकारसे जहाँ अस्वार्थका व्यवच्छेद होकर स्वार्थकी प्रतिपत्ति श्रोताको करायी जाती है वहाँ उससे एक अनिष्ट-प्रसंगके भयकी सम्भावना रहती है। वह यह कि श्रोता यह मान बैठे कि वस्तु विवक्षित स्वार्थवाली ही है—अविवक्षित अस्वार्थवाली नहीं है जब कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ यह कहा जाय कि 'देवदत्त पिता ही है' तो यह कथन उसके पुत्रकी अपेक्षा ठीक होते हुए भी उसके अपने पिता आदिकी अपेक्षा ठीक नहीं है, क्योंकि

उनकी अपेक्षा तो वह पुत्र आदि भी है। अतएव इष्ट (अभिप्रेत) की सम्प्रतिपत्तिके लिए जहाँ वक्ता अपने वचन-प्रयोगके साथ विवक्षितके निश्चयका बोधक अवधारणार्थक एवकारका प्रयोग आवश्यक समझता है वहाँ अनिष्ट-निवृत्ति (अनभिप्रेतोंके अभाव-प्रसंगके निराकरण) के लिए वह 'स्यात्' निपातपदका भी प्रयोग करता है, जिसका अर्थ है कि देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता ही है, पर अपने पिता, मामा आदिकी अपेक्षासे अपिता आदि भी है—उनकी दृष्टिसे तो वह पुत्र, भानजा आदि है। अतएव 'देवदत्त स्यात् पिता ही है' ऐसा वचन प्रयोग न्याय्य है और वही वक्ताके लिए अभीष्ट है। यहाँ 'स्यात्' निपातपद संशय या सम्भावना या शायदका बोधक नहीं है, अपितु एक निश्चित दृष्टि या अभिप्रायका प्रकाशक है। इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रने एवकारपद-प्रयोगके समर्थनके साथ ही प्रत्येक पदको 'स्यात्' पदसे भी युक्त प्रतिपादित किया है। इस 'स्यात्' पदके प्रयोगसे वक्ता श्रोताको अविवक्षितोंके सद्भाव (अभाव नहीं) का बोध कराता है। अतः स्याद्वादी वक्ता और श्रोता स्याद्वादनयसे वस्तुका अभिधान करता तथा उसे समझता है। अतएव उपर्युक्त आशंकित अनिष्ट-प्रसंगरूप भय (हानि) की सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदके साथ प्रयुक्त एवकारसे जहाँ विवक्षितका निश्चय बोधित होता है वहाँ स्यात्-पदके प्रयोगसे अविवक्षितोंके अभाव-प्रसङ्गकी निवृत्ति भी की जाती है अर्थात् उनका गौणरूपसे मौन सद्भाव स्वीकृत रहता है—अविवक्षाके कारण उनका अभाव नहीं हो जाता—मात्र उनका निश्चय अबोधित है।

यदि वक्ताके पदप्रयोगके साथ 'स्यात्' निपात न भी प्रयुक्त हो तब भी उसका तदर्थक अभिप्राय रहनेसे वह सामर्थ्यसे एवकारकी तरह गम्य हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकारने[1] वक्ताके प्रत्येक पदप्रयोगके साथ एवकार और 'स्यात्' निपात दोनोंके प्रयोगका प्रकट या अप्रकटरूपमें समर्थन किया

---

१. 'ततः स्यात्कारलांछनं पदमेवकारोपहितमर्थवत् प्रतिपत्तव्यमिति'''।

—विद्यानन्द, युक्त्य० टी० पृ० १०४।

है। ध्यान रहे 'स्यात्' निपात उन अनभिप्रेतों (विरोधी धर्मों) का मात्र सद्भाव द्योतित (प्रकाशित) करता और मूल पद (घड़ा है आदि) अभिप्रेत (विवक्षित) का मुख्यतया प्रतिपादन करता है तथा एवकार उसके निश्चयका अवबोधक होता है। यही प्रतिपादन समन्तभद्रने 'कथञ्चित्ते सदेवेष्टं' (दे० का० १४)—वस्तु 'कथंचित् सत् ही है' इत्यादि रूपसे विस्तारपूर्वक देवागममें किया है।

वक्ताके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले जिस पदका उल्लेख ऊपर किया गया है उसका प्रयोग वक्ता एक प्रतिपाद्य अथवा अनेक प्रतिपाद्योंके लिए सात तरहसे करता है। अतएव सात विकल्पोंमें वह विभक्त होता है। वे सात विकल्प इस प्रकार हैं—१. विधि, २. निषेध और ३. अनभिलाप्यता ये तीन तो एक-एककी अपेक्षा (असंयोगी) मूल विकल्प (भङ्ग) हैं तथा दो-दोके संयोगसे निष्पन्न तीन द्विसंयोगी विकल्प हैं—४. विधि-निषेध, ५. विधि-अनभिलाप्यता और ६. निषेध-अनभिलाप्यता। तीनके संयोगसे होनेवाला एक त्रिसंयोगी विकल्प है। वह है—७. विधि-निषेध-अनभिलाप्यता। और इस तरह वक्ता पदका प्रयोग सात तरहसे करता है। इसका कारण यह है[1] कि प्रतिपाद्य, जिसे समझानेके लिए वक्ता पद प्रयुक्त करता है, सात तरह प्रश्न करता है। सात प्रश्नोंका कारण उसके सात सन्देह हैं, सात सन्देहोंका कारण उसकी सात जिज्ञासाएँ हैं और उन सात जिज्ञासाओंका भी कारण वस्तुनिष्ठ सत्त्वादि सात धर्म हैं जो उसमें स्वभावतः विद्यमान हैं। इन सात धर्मोंको लेकर ही प्रतिपाद्यको जिज्ञासादिक्रमसे सात प्रश्नोंके करनेका अवसर मिलता है। फलतः वक्ता उक्त सप्त-संख्यक प्रश्नोंका उत्तर सप्त-पदों (वाक्यों) द्वारा देता है। उसके इन सप्त-

१. '…सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।

—अष्टस०, पृ० १२५-१२६।

पदोंको ही स्याद्वाद-शासनमें सप्तभङ्ग या सप्तभङ्गीके नामसे उल्लेखित किया गया है। ये सातों भङ्ग सभी जीवादिपदार्थधर्मोंमें 'स्यात्' शब्द द्वारा नेतव्य (योजनीय) हैं। कारिका ४५ में यही सब निरूपण किया गया है।

कारिका ४६ में बतलाया है कि 'स्यात्' शब्द भी उन जीवादि पदार्थ-धर्मों (एकान्तों) को मुख्य और गौणकी विवक्षाओं द्वारा ही कल्पित (निरूपित) करता है, क्योंकि वह उपाधि (विशेषण) के अनुसार भेदक होता है। तात्पर्य यह कि जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह मुख्य और जिसकी विवक्षा नहीं होती वह गौणरूपसे 'स्यात्' शब्द द्वारा प्रकाशित होता है। यही कारण है कि प्रथम भङ्गमें विधिधर्मकी विवक्षा होनेसे वह मुख्यतया प्रतिपादित है और शेष निषेध आदि धर्मोंकी विवक्षा न होनेसे वे गौणतया द्योतित हैं। इसीप्रकार द्वितीय भङ्गमें निषेधधर्म, तृतीयमें अनभिलाप्यताधर्म, चतुर्थमें विधि-निषेधधर्म, पञ्चममें विधि-अनभिलाप्यताधर्म, षष्ठमें निषेध-अनभिलाप्यताधर्म और सातवें भङ्गमें विधि-निषेध-अनभिलाप्यताधर्मकी विवक्षा होनेसे वे प्रधानतया प्रतिपादित हैं तथा शेष धर्मोंकी विवक्षा न होनेसे वे गौणरूपसे सूचित हैं। इस प्रकारके वैशिष्ठ्यका प्रकाशन प्रत्येक भङ्गमें प्रकट या अप्रकटरूपमें रहनेवाला 'स्यात्' निपात ही करता है। यह सामर्थ्य किसी अन्य शब्दमें नहीं है। आचार्य समन्तभद्रने इसी तथ्यको 'धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिण:' (दे० २२)—अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक धर्मका प्रयोजन अन्य ही है। उन अनन्त धर्मोंमेंसे अन्यतम धर्मको प्रधान होनेपर शेष सभी धर्म उसके अङ्ग (अप्रधान) हो जाते हैं—देवागममें प्रकट किया है।

यहाँ ध्यातव्य है कि 'स्यात्' निपात जहाँ नयकी अपेक्षासे वस्तुधर्मों—एकान्तोंका मुख्य-गौणभावसे प्रकाशन करता है वहाँ वह प्रमाणकी अपेक्षासे अशेष जीवादितत्त्व—अनेकान्तका भी बोध कराता है, क्योंकि तत्त्व दो प्रकारका है—द्रव्यरूप और पर्यायरूप। अथवा विधिरूप और निषेधरूप।

दोनोंके समुच्चयका नाम अनेकान्त है और एक-एक किन्तु परस्पर-सापेक्ष दोनों एकान्त हैं। एकान्त नयका विषय है और अनेकान्त प्रमाणका। नय-वाक्यसे जिस प्रकार एकान्तका बोध होता है उसी प्रकार प्रमाणवाक्यसे अनेकान्तका। (सकलादेश: प्रमाणाधीन:, विकलादेशो नयाधीन: ।) अत: नयवाक्यकी तरह प्रमाणवाक्यके साथ भी वक्ता 'स्यात्' निपात्का प्रयोग करता है। अतएव सप्तभङ्गी दो प्रकारकी मानी गयी है—१. नय-सप्तभङ्गी और २. प्रमाणसप्तभङ्गी। नयसप्तभङ्गीका विषय सम्यक् एकान्त है और प्रमाणसप्तभङ्गीका सम्यक् अनेकान्त। इसी भावका प्रकाशन ग्रन्थ-कारने इस कारिकामें किया है।

कारिका ४७ में निर्देश है कि स्याद्वाद-शासनमें न सर्वथा द्रव्य व्यव-स्थित है, क्योंकि पर्यायोंसे रहित केवल द्रव्यकी प्रतीति नहीं होती, न सर्वथा पर्याय स्वीकृत है, क्योंकि द्रव्यसे रहित मात्र पर्यायका प्रत्यक्षादिप्रमाणसे अनुभव नहीं होता, न सर्वथा पृथग्भूत (परस्परनिरपेक्ष) द्रव्य और पर्याय दोनों अङ्गीकृत हैं, क्योंकि उनकी भी किसी प्रमाणसे प्रतीति नही होती, और न सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व अभिमत है, क्योंकि द्वयात्मकता और एकत्व दोनों विरुद्ध हैं। द्वयात्मक माननेपर उसे एक और एक माननेपर द्वयात्मक स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्रव्य और पर्याय दोनों प्रत्यक्षादि-से प्रतिभासमान होते हैं। अत: दोनों स्याद्वाद-दर्शनमें अभिमत हैं और वे तीन तरहसे स्वीकृत हैं—१. कथंचिद् भिन्न, २. कथंचिद् अभिन्न और ३. कथंचिद् भिन्नाभिन्न। उन्हें सर्वथा भिन्न, सर्वथा अभिन्न और सर्वथा भिन्ना-भिन्न स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसमें उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्यक्षादिसे विरोध आता है। जब पर्यायार्थिकनयकी प्रधानताको लक्ष्यमें रखा जाता है तब द्रव्य और पर्याय कथंचिद् भिन्न हैं। जब द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यताको दृष्टिमें लाया जाता है तब द्रव्यसे पर्याय कथंचिद् अभिन्न है। और जब क्रमसे दोनों नयोंकी विवक्षा होती है तब द्रव्य तथा पर्याय कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं। इस प्रकार धर्मी(द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों तीन प्रकारसे व्यवस्थित हैं।

कारिका ४८ में उक्त कथनको युक्त्यनुशासन (प्रत्यक्ष और आगमा-विरुद्ध एवं युक्तिसिद्ध) प्ररूपित किया और दृष्टान्तद्वारा उसका समर्थन किया है ।

कारिका ४९ में भेद (नाना) को अभेद (एक) का और अभेद को भेदका अविनाभावी प्रकट करके उन्हें प्रधान तथा गौणरूपसे विभिन्न पदों-का वाच्य बतलाया है । तात्पर्य यह कि जहाँ भेद है वहाँ अभेद भी रहता है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद भी रहता है । अभेदको छोड़कर केवल भेद और भेदको छोड़कर केवल अभेद नहीं रहता । सिर्फ विवक्षावश वे मुख्य और गौण हो जाते हैं । जब एक पदके द्वारा भेद विवक्षित होता है तो भेद मुख्य और अभेद गौण हो जाता है—वहाँ अभेदका तिरस्कार नहीं होता । तथा जब दूसरे पदके द्वारा अभेद विवक्षित होता है तो अभेद मुख्य और भेद गौण हो जाता है—उस (भेद) का अपलाप नहीं होता ।

कारिका ५० में प्रतिपादन है कि धर्म यदि परस्परमें निरपेक्ष हों और धर्मीसे पृथक् हों तो वे उसी प्रकार अर्थक्रियामें अक्षम हैं जिस प्रकार आतान-वितानरूप तन्तु परस्परनिरपेक्ष होनेपर पटरूप कार्यकी निष्पत्तिमें असमर्थ हैं । अतः अंश अंशीसे और अंशी अंशोंसे न सर्वथा पृथक् है, न सर्वथा अपृ-थक् और न सर्वथा पृथक्-अपृथक् । अपितु कथंचिद् भिन्न, कथंचिद् अभिन्न और कथंचिद् भिन्नाभिन्न है । अतएव वे (अंश) परस्परसापेक्ष होकर ही अर्थक्रियामें समर्थ हैं । इसी प्रकार उन अंशोंके ग्राहक नय भी अपने अस्तित्व-रूप अर्थक्रियामें परस्पर सापेक्ष होकर सक्षम देखे जाते हैं ।

कारिका ५१ में कथन किया है कि एकान्तके आग्रहसे लोगोंको अहं-कार और अहंकारसे रागादि उत्पन्न होते हैं । पर एकान्तके त्याग और अनेकान्तके स्वीकारसे, जो वस्तुका स्वाभाविक (यथार्थ-सम्यग्दर्शन) रूप है, न आग्रहमूलक अहंकार होता है और न अहंकारकारणक रागादि । फलतः स्याद्वादशासनमें लोगोंका मन समता (माध्यस्थ्य) पूर्ण होता है ।

कारिका ५२ में उस शङ्काका सयुक्तिक समाधान है जिसमें कहा गया

है कि स्याद्वाद-शासनमें भी अनेकान्तके प्रति राग और सर्वथा एकान्तके प्रति द्वेष होता है तब इस शासनमें भी लोगोंका मन समतापूर्ण कैसे हो सकता है ? और उस हालतमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था भी कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि प्रतिपक्ष (विरोधी धर्म) के विषेधकको अनेकान्तवचनोंद्वारा उसके प्रतिपक्ष-निराकरणसे रोका जाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिपक्ष (विरोधी) धर्मको भी लिए हुए होनेसे नानात्मक है। फलतः गलत वस्तुस्वरूपको माननेसे रोकने और यथार्थ वस्तुस्वरूपका निश्चय करानेके कारण स्याद्वादशासनमें एकान्तवादके प्रति द्वेष और अनेकान्तको प्रति राग नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अतत्त्वका परिहार कर तत्त्वका निश्चय करना रागद्वेष नहीं है। अतः स्याद्वादीका मन समतापूर्ण होता है और इसलिए स्याद्वादशासनमें ही बन्ध तथा मोक्षकी व्यवस्था है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष ज्ञाता-आत्मामें होते है, प्रधान (प्रकृति) में नहीं, वह तो अज्ञ है।

कारिका ५३-६० में वीर-शासनमे प्रत्येक पदका वाच्य क्या है और वाचकका स्वरूप क्या है, इसका समीक्षापूर्वक प्रतिपादन किया है। बौद्ध अन्यापोहरूप सामान्यको, वैशेषिक जातिरूप सामान्य और विशेषको, मीमांसक व्यक्तिसे अभिन्न सामान्यको, संवेदनाद्वैतवादी संवित्तिमात्र (अतद्व्यावृत्तिके अभिनिवेश) को, वेदान्ती सत्ताद्वैतरूप सामान्यको, शून्याद्वैतवादी शून्यको और सांख्य प्रधानरूप सामान्यको वाच्य मानते हैं। इन सबकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि कोई भी पद या वाक्य हो वह विशेष और सामान्य दोनोंको मिलित रूपमे विधिमुखेन अथवा निषेधमुखेन अभिहित करता है। तात्पर्य यह कि विशेष सामान्यमें उसी प्रकार निष्ठ हैं जिस प्रकार घटमे रूपादि। अत एव वक्ता जब विधिवाक्यका प्रयोग करता है तब विधिवाक्य विधिका मुख्यतया अभिधान करता है और निषेधका गौणतया द्योतन करता है। और जब वह निषेधवाक्य बोलता है तब निषेधवाक्य निषेधका मुख्यरूपसे और विधिका गौणरूपसे कथन (प्रकाशन) करता है।

अतः वाच्य भी अनेकान्तात्मक है और वाचक भी। ये विधि और निषेध सामान्य-विशेषरूप ही हैं।

आप्तमीमांसाकी[1] प्रस्तावना (पृ० २२-२३) में का० १०९ के व्याख्यान-सन्दर्भमें हमने लिखा है कि 'जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधिधर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेधधर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं कराता। इसी प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेधधर्मका कथन करने के साथ अविनाभावी विधिधर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करने के लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ताद्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकटरूपसे अवश्य रहता है। यदि विधिवाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविशेष्य (धर्मशून्य) हो जायगी।'

यथार्थमें हमें, वस्तुमें अभेदबुद्धि और भेदबुद्धि दोनों होती हैं। अभेद-बुद्धिसे सामान्य (विधि) के सद्भावका और भेदबुद्धिसे विशिष्टता (विशेष-

---

१. वीर सेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, १९६७।

निषेध) के सत्त्वका निश्चय होता है। अभेदबुद्धिको अन्वयबुद्धि और भेद-बुद्धिको व्यावृत्ति (व्यतिरेक) बुद्धि कहते हैं। इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि वाच्य अनेकान्तात्मक है। और वाचक भी अनेकान्तरूप है।

६१-६४ तक चार कारिकाएँ उपसंहारके रूपमें हैं। वीरशसानकी विशेषता बतलाते हुए कारिका ६१में कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे वीर-शासन सभी वस्तुधर्मोंका प्रतिपालक है—किसी धर्मका लोपक नहीं, तथा उन धर्मोंकी व्यवस्था वह मुख्य और गौणभावसे करता है। इसके विपरीत एकान्त (क्षणिकत्वादि) शासन उन वस्तुधर्मोंको परस्परनिरपेक्ष प्रतिपादित करते एवं एक-एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मानते हैं—या तो उसे सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक, सर्वथा सत् या सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत) या सर्वथा अनेक (द्वैत) आदि स्वीकार करते हैं। फलतः विरोधी धर्मका तिरस्कार (निषेध) होनेसे उनके अविनाभावी इष्ट धर्मका भी अभाव प्रसक्त होता है और इस तरह एकान्तशासन सभी धर्मोंसे शून्य हैं—उनमें उनका अभिमत धर्म भी व्यवस्थित नहीं होता। अत एव वीरशान ही समस्त विपदाओं (दुःखों)का अन्त करनेवाला है, निरन्त (अविच्छेद्य) है और 'सर्वोदय तीर्थ' (सभीके अभ्युदयका कारण होनेसे तीर्थरूप) है।

कारिका ६२में ग्रन्थकारने उन सभी दार्शनिकोंको, जो वीर-शासनके द्वेषी भी हों, वीरशासनको समीक्षार्थ आह्वान किया है और उनसे घोषणा-पूर्वक कहा है कि वे उपपत्तिचक्षु (युक्तिरूप दृष्टिसे युक्त) और समदृष्टि (पूर्वाग्रहोंसे मुक्त निष्पक्ष) होकर वीर-शासनकी यथेच्छ मीमांसा करें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे निश्चय ही अपने कदाग्रहरूप अभिमानका त्यागकर अभद्र होनेपर भी समन्तभद्र (स्वपरके कल्याणकर्ता) बन जायेंगे।

कारिका ६३में स्तुतिका सद्भावपूर्ण एवं शुद्ध लक्ष्य बतलाते हुए कहा है कि हमने न राग (पक्षपात)से वीर-जिनका स्तवन किया और न द्वेषसे दूसरोंके दोषोंको कहनेकी आदतद्वारा खलत्व (टुच्चापन) दिखाया है—हमने केवल एक परीक्षकके कठोर कर्त्तव्यका पालन किया है। इसी कारण

उन लोगोंकेलिए, जो न्याय-अन्याय (युक्त-अयुक्त, सम्यक्-असम्यक्) तथा विचारणीय पदार्थके गुण-दोषों (लाभालाभ) को जाननेके इच्छुक हैं, वीर-जिनके गुण-कथनके सन्दर्भमें हितान्वेषण (हितकी खोज) का उपाय (मार्ग) बतलाया है।

इस प्रस्तावकी अन्तिम कारिका ६४ है। इसमें स्वामी समन्तभद्रने वीर-जिनके शासनको हितकारी और युक्तिशास्त्राविरोधी प्रमाणसे निर्णीत होनेके कारण उनमें ही अपनी भक्तिको स्थिर करनेकी उनसे कामना की है। वे कहते हैं कि हे जिन ! आप उन देवेन्द्रों एवं मुनिश्रेष्ठोंद्वारा स्तुत्य हैं, जो स्वयं दूसरोंसे स्तुत हैं और एकाग्रमनसे आपका ही ध्यान करते हैं। आपने निःश्रेयसपद प्राप्त किया तथा पापरूप शत्रुसेनापर विजय पाकर अद्भुतशक्तिके धारक वीर और महावीर बने हैं। इन गुणोंके कारण आप मेरे द्वारा भी यथाशक्ति स्तुत हुए हैं। अर्थात् मैंने भी शक्त्यनुसार आपकी स्तुति की है। फलस्वरूप मेरी भक्ति आपके ही अद्वितीय मार्गमें रहे, यही चाहता हूँ।

(घ) अन्तिम दो कारिकाएँ

ग्रन्थकारने अपने नामका उल्लेख 'भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः' इस ६२ वीं कारिकामें किया है। उनके इस उल्लेखसे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ यहीं समाप्त है। स्वयम्भू स्तोत्रमें भी 'तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम्' (स्वय. १४३) इस नमोल्लेखवाली कारिकापर ही उसकी समाप्ति है और वही कारिका उसकी अन्तिम कारिका है—उसके बाद उसमें और कोई कारिका उपलब्ध नहीं है। जिनस्तुति, आप्त-मीमांसा और रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें ग्रन्थकारका नाम निर्देश न होनेसे उनका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः युक्त्यनुशासनमें उक्त ६२ वीं कारिकाके बाद जो ६३ व ६४ नम्बरवाली दो कारिकाएँ अन्तमें उपलब्ध होती हैं वे ग्रन्थकारोक्त नहीं ज्ञात होतीं।

प्रश्न है कि फिर आचार्य विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषीने उक्त दोनों

कारिकाओंकी व्याख्या क्यों की, उससे तो उक्त दोनों पद्य मूल ग्रन्थके ही अंग अवगत होते हैं ?

इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि विद्यानन्दसे पूर्व युक्त्यनुशासनपर किसी विद्वान्‌के द्वारा व्याख्या लिखी गयी हो और व्याख्याकारने अपनी व्याख्याके अन्तमें उक्त पद्य दिये हों। कालान्तरमें वह व्याख्या तो लुप्त हो गयी हो और व्याख्याके उक्त अन्तिम पद्य मूलके साथ किसीने जोड़ दिये हों। या यह भी सम्भव है कि किसी पाठ करनेवाले विद्वान्‌ने उक्त पद्य स्वयं रचकर उसके साथ सम्बद्ध कर दिये हों और वही प्रति व्याख्या रहित विद्यानन्दको मिली हो तथा उन्होंने उक्त दोनों पद्योंको उसके साथ पाकर उनकी भी व्याख्या की हो। जो हो, ये दोनों अन्तिम पद्य यथास्थितिके अनुसार विचारणीय अवश्य हैं।

हाँ, एक बात यहाँ कही जा सकती है। वह यह कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके आरम्भमें प्रथम कारिकामें वीर-जिनकी स्तुतिकी इच्छा व्यक्त की है तथा दूसरी, तीसरी और चौथी कारिकाओं द्वारा प्रश्नोत्तरपूर्वक 'तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः' (का. ३) जैसे वाक्योंको लिए हुए उनके प्रति असीम भक्ति प्रकट की है। अतः उपसंहारमें भी ग्रन्थकारद्वारा उसका प्रकाशन हो, तो आश्चर्य नहीं, और तब उक्त दोनों अन्तिम कारिकाएँ ग्रन्थकारोक्त कही जा सकती हैं।

(ङ) युक्त्यनुशासनके उल्लेख और मान्यता

यों तो स्वामी समन्तभद्रकी प्रायः सभी कृतियाँ अर्थगम्भीर और दुरूह हैं। किन्तु युक्त्यनुशासन उनमें भी अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर है। इसका एक-एक वाक्य सूत्रात्मक है और बहु-अर्थका बोधक है। साधारण बुद्धि और आयामसे उसकी गहराई एवं तलमें नहीं पहुँचा जा सकता है। इसे विशिष्ट समझनेके लिए दार्शनिक प्रतिभा, असाधारण मेधा, एकाग्रसाधना और परिश्रमको आवश्यकता है। सम्भवतः युक्त्यनुशासनकी इन्हीं विशेषताओंके कारण हरिवंशपुराणकारने समन्तभद्र-वाणीको वीर-वाणीकी तरह प्रभाव-

शालिनी बतलाया है। विद्यानन्दने तो उससे प्रभावित होकर उसपर व्याख्या लिखी है और अपने ग्रन्थोंमें उसके वाक्योंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत करके अपने कथनकी सम्पुष्टि की है। आप्तपरीक्षा (पृ० ११८) में वैशेषिक दर्शनकी समीक्षाके सन्दर्भमें युक्त्यनुशासन (का० ७) के एक प्रमाण-वाक्य 'संसर्गहानेः सकलार्थहानिः' का विस्तृत अर्थोद्घाटन किया है। उसे भाष्य कहा जाय तो आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः विद्यानन्दके इस अर्थोद्घाटनसे उक्त वाक्यकी गम्भीरता और दुरूहताकी कुछ झाँकी मिल जाती है।

विद्यानन्दसे पूर्व भट्ट अकलङ्कदेवने भी युक्त्यनुशासनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया है। तत्त्वार्थवार्त्तिक (पृ० ३५) में आगत अनेकान्तलक्षण—'एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो 'युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः'—पर युक्त्यनुशासन (का० ४८) के 'युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' इस वाक्यका प्रभाव लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त त० वा. (१–१२, पृ० ५७) में 'प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र' (युक्त्य० का० २२) इत्यादि पूरी कारिका भी उद्धृत पायी जाती है और उसे 'उक्तं च' के साथ प्रस्तुत करके उन्होंने उससे अपने प्रतिपादनको प्रमाणित किया है।

अकलङ्कदेवसे लगभग दो शताब्दी पहले आचार्य पूज्यपाद (ई० ५ वीं शती) ने भी युक्त्यनुशासनका उपयोग किया जान पड़ता है। युक्त्यनुशासनमे एक स्थल (का० ३९) में शीर्षोपहार आदिसे देवोंकी आराधना कर उन सिद्ध बनने वालोंकी समीक्षा है जो सुखकी तीव्र लालसा रखते हैं, पर अपने दोषों (राग-द्वेष-मोहादि) की निवृत्ति नहीं करते। यथा—

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥

पूज्यपादने भी लगभग इन्हीं शब्दोंमें अपनी सर्वार्थसिद्धि (९–२, पृ० ४१०) में संवरके गुप्त्यादि साधनोंके विवेचन-सन्दर्भमें यही कहा है—

'तेन तीर्थाभिषेक-दीक्षा-[1] शीर्षोपहार-देवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति; राग-द्वेष-मोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्यभावात् ।'

इन दोनों स्थलोंकी तुलनासे स्पष्ट जान पड़ता है कि पूज्यपाद युक्त्यनुशासनसे परिचित एवं प्रभावित थे और उसकी उक्त कारिकाका उनके उक्त वाक्योंपर प्रभाव है ।

(च) युक्त्यनुशासन-टीका

युक्त्यनुशासनपर विद्यानन्दकी एक मध्यम परिमाणकी संस्कृत-टीका प्राप्त है । यह टीका ग्रन्थके हार्दको स्पष्ट करनेमें पूर्णतः सक्षम है । टीकाकारने अत्यन्त विशदताके साथ इसके पद-वाक्यादिका अर्थोद्घाटन किया है । व्याख्याकारकी सूक्ष्म दृष्टि इसके प्रत्येक पद और उसके आशयके अन्तस्तल तक पहुँची है । वस्तुतः इसपर यह व्याख्या न होती तो युक्त्यनुशासनके अनेक स्थल दुरधिगम्य बने रहते । व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याका नाम 'युक्त्यनुशासनालंकार' दिया है, जो युक्त्यनुशासनका अलङ्करण करनेके कारण सार्थक है । इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके बाद रचा है, क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं ।[2] यह मूल ग्रन्थके साथ कोई ४८ वर्ष पूर्व वि० सं० १९७७ में माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालासे एक बार प्रकाशित हो चुका है, परन्तु अब वह अप्राप्य है । यह अशुद्ध भी काफी छपा है । अतः इसका शुद्ध और सुन्दर आधुनिक संस्करण अपेक्षित है ।

(छ) हिन्दी-अनुवाद

युक्त्यनुशासनके मर्मको हिन्दी भाषामें प्रकट करनेके उद्देश्यसे स्वामी समन्तभद्रके अनन्य भक्त और उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवादक, प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासकार पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'ने

---

१. तुलना—'···दीक्षासममुक्तिमानाः—'—युक्त्य० का. ३७ ।

२. युक्त्य० टी. पृ. १०, ११ ।

इसपर सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद उन्होंने विद्यानन्दकी उक्त संस्कृत-टीकाके आधारसे किया है। अनुवाद विशद, सुन्दर और ग्रन्थानुरूप है। दुरूह और क्लिष्ट पदोंका अच्छा अर्थ एवं आशय व्यक्त किया है। मूल ग्रन्थका अनुगम करनेकेलिए यह अनुवाद बहुत उपयोगी और सहायक है। यह वीर सेवा मन्दिर दिल्लीसे सन् १९५१ में प्रकाशित हो चुका है।

२. समन्तभद्र

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र हैं, जो शिलालेखों और साहित्यमें विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मयके मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमे बहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेवने स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखोंमें वीरशासनकी, सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलि सन्तानोन्नायक, समस्त विद्यानिधि, शास्त्रकर्ता एवं कलिकाल गणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत परम्परा ऋषभादि तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञान प्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहासग्रन्थमें किया है। उन्होंने इनका समय विक्रमकी २री-३री शती निर्णीत किया है। अतः समन्तभद्रके परि-

चय आदिको न देकर यहाँ केवल उनकी कतिपय उपलब्धियोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास किया जायगा।

(क) समन्तभद्रसे पूर्वका युग

जैन श्रुतके बारहवें दृष्टिवाद-अङ्गमें[1] विभिन्न वादियोंकी एकान्त दृष्टियों (मान्यताओं) के निरूपण और समीक्षण पूर्वक उनका स्याद्वादनयसे समन्वय उपलब्ध है। इसीसे श्रुतके मूलकर्त्ता ऋषभादि सभी तीर्थंकरोंको समन्तभद्रने 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' (स्वयं० १४) जैसे पदप्रयोगों द्वारा 'स्याद्वादी' (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। अकलङ्कदेवने[2] भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता और उनके शासन (उपदेश) को स्याद्वादरूप अमोघ चिह्नसे युक्त बतलाया है।

षट्खण्डागम आदि आगमोंमे यद्यपि स्याद्वादकी स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती फिर भी उनमें सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया अथवा सिय) शब्दको लेकर अवश्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है[3] कि 'मणुस्सा···सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक हैं, स्यात् अपर्याप्तक। इसी प्रकार आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन मिलता है। इस तरह आगम-ग्रन्थोंमें 'स्यात्' शब्दको लिए हुए विधि और निषेध इन दो वचन-प्रकारोंसे कथन उपलब्ध होता है। आ० कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध)

---

१. ···'एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षष्ठ्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते।'

—वीरसेन, धवला पु० १, पृ० १०८।

२. (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

—लघीय० का० १-१।

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—प्रमाणसं० १-१।

३. षट्खण्डागम १-१-८९।

वचन-प्रकारोंमें पाँच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचन-प्रकारोंसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है । यथा—

> सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
> दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥
>
> पंचास्तिकाय गा० १४ ।

'स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं ।' इन सात भङ्गोंका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करनेकी सूचना की है । कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है[1] कि यदि सद्-रूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्य पर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है । इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन वाङ्मयमें दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था । आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है । एक तो उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्यसूत्रोंमें बदल दिया । दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया । तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणा-गत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाणसंज्ञा देकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदोंका कथन किया । चौथे, दर्शनान्तरोंमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभि-ज्ञान, अनुमान इन्हें मतिज्ञान और शब्दको श्रुतज्ञान कहकर उन्हें 'आद्ये परो-क्षम्' (त० सू० १-११) सूत्र द्वारा परोक्षप्रमाणमें समावेश किया । पाँचवें, प्रमाणकी तरह नयको भी अर्थाधिगमका साधन निरूपित करके उसके नैग-मादि सात भेदोंका निर्देश किया । इस तरह गृद्धपिच्छने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया । इतना होनेपर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षों

---

१. पंचास्तिकाय गा० १५,१७ ।

और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं आपाया, जो उनके कुछ समय बादकी चर्चाके विषय हुए।

(ख) समन्तभद्रकालीन स्थिति

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्दी प्रभावक विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरेके खण्डनमें लग गये। शास्त्रार्थोंकी धूम मच गयी। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलोंको लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार[1] कोटियोंसे विचार किया जाता था। तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही माननेका आग्रह रहता था। इस खींच-तानके कारण अनिश्चयवादी संजयके अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही प्रतिपादन करते थे[2]। उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली वादियोंकी चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है।
(२) तत्त्व असत् है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

---

१. सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥

—स्वय० १०१, समन्तभद्र।

२. दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें संजयका मत 'अमरा विक्षेपवाद' के रूपमें मिलता है। अमरा एक प्रकारकी मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता)-का होना—मानना अमरा-विक्षेपवाद है।

२. शाश्वत-अशाश्वतवाद

(१) तत्त्व शाश्वत है।

(२) तत्त्व अशाश्वत है।

(३) तत्त्व उभय है।

(४) तत्त्व अनुभय है।

३. द्वैत-अद्वैतवाद

(१) तत्त्व द्वैत है।

(२) तत्त्व अद्वैत है।

(३) तत्त्व उभय है।

(४) तत्त्व अनुभय है।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

(१) तत्त्व वक्तव्य है।

(२) तत्त्व अवक्तव्य है।

(३) तत्त्व उभय है।

(४) तत्त्व अनुभय है।

(१) समन्तभद्रकी देन

यद्यपि कुन्दकुन्द स्पष्ट निर्देश कर चुके थे कि तत्त्व-निरूपण दो या चार कोटियोंमें सीमित नहीं है, अपितु सात वचन-प्रकारोंसे वह होता है। पर उनका यह निर्देश तर्कका रूप न पा सकनेसे विश्रुत न हो सका। आचार्य समन्तभद्रने उसे तर्कका रूप दिया और उसपर विस्तृत चिन्तन एवं प्रबन्ध लिखे। इन प्रबन्धों द्वारा उन्होंने प्रतिपादन किया कि तत्त्वका पूर्ण कथन दो या चार ही कोटियोंसे नहीं होता, किन्तु सात[1] कोटियों द्वारा होता है। उन्होंने वर्णित किया कि तत्त्व वस्तुतः अनेकान्तरूप है[2]—एकान्तरूप नहीं

१. सप्तभङ्गनयापेक्षो···।

—आप्तमी० १०४।

२. तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्···।

—युक्त्य० ४६।

और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों[1] (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्मसमुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं तथा इसीसे उसमें अनन्त सप्त-कोटियाँ भरी पड़ी हैं। हाँ, दृष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहे या जाने तो यह समझे कि तत्त्वमें वह धर्म (कोटि) अमुक अपेक्षासे विवक्षित है और वह अन्य धर्मों (कोटियों) का निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश मुख्य है और अन्य धर्म गौण[2]। इसे समझनेके लिए समन्तभद्रने प्रत्येक कोटि (भङ्ग-वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात लगानेकी सिफारिश की[3] और उसका अर्थ कथञ्चित्—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया[4]। साथ ही प्रत्येक कोटिकी यथार्थता एवं निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकारका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,[5] जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया[6]—सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्गनय। समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभङ्गी (सप्तकोटि) इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

---

१. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते॥
—स्वयम्भू० १०१।

२. विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
—स्वय० २५; ५३।

३. वाक्येष्वनेकान्तद्योती…स्यान्निपातो…।
—आप्तमी० १०३; युक्त्य० ४३; स्वय० १०१।

४. आप्तमी० १०४, १४।

५. युक्त्य० ४१, ४२।

६. आप्तमी० २३, १०४।

सदसद्वाद

(१) स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है ।[1]
(२) स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है ।
(३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है ।
(४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है ।
(५) स्यात् सद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है ।
(६) स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है ।
(७) स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है ।

इस सप्तभङ्गीका समन्तभद्रने सहेतुक समर्थन किया । उन्होंने बतलाया कि प्रथम भङ्ग (कोटि) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे विवक्षित है । द्वितीय भङ्ग परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी सम्मिलित अपेक्षाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कह न सकनेसे, पंचम प्रथम-चतुर्थके संयोगकी अपेक्षासे, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम प्रथम-द्वितीय-चतुर्थके मिलनसे अभिप्रेत हैं और प्रत्येकका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। इन अपुनरुक्त सात भङ्गों[2] (असंयोगी प्रथम ३, द्विसंयोगी

---

१. कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥
—आप्तमी० १४ ।

२. (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द-नेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥
—युक्त्य० ४५ ।

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्, विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ॥
सदन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥
—स्वयम्भू० ११८ ।

३ और त्रिसंयोगी १ कुल ७) से न अधिक सम्भव हैं और न कम । जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है—

> सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
> असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
> क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
> अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥
> धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः ।
> अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥
>
> —आप्तमी० १५, १६, २१ ।

शाश्वत-अशाश्वत आदि वाद

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह शाश्वत-अशाश्वतवाद, द्वैत-अद्वैतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिर्रथवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्ष कारणवाद जैसे एकान्तवादोंपर भी विचार किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वादकी स्थापना की ।[1] उन्होंने घोषणा की कि जो सर्वथा सत्, एक, नित्य और वक्तव्य तथा उनकी विरोधी सर्वथा असत्, अनेक, अनित्य और अव्यक्तव्यकी मान्यताएँ हैं उन्हें सर्वथा (एकान्ततः) स्वीकार करनेपर उनमें अनेक दोष आते हैं और 'स्यात्' (कथंचित्) के साथ उन्हें माननेपर वे संपुष्ट होती हैं—वस्तुतत्त्वकी यथार्थ व्यवस्थापक होती हैं। इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद-दृष्टि (तत्त्व-विचारकी पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-संघर्षों और विवादोंको दूर करनेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानों-की आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने नया चिन्तन प्रस्तुत किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनोंके समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया ।

समन्तभद्रने जिन उपादानोंका सृजन किया, वे इस प्रकार हैं—

---

१. आप्तमी० २३, ११३ ।

(१) प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण[1] ।

(२) प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि इन दो भेदोंकी परिकल्पना[2] ।

(३) प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोंका निर्देश तथा निरूपण[3] ।

(४) प्रमाणका विषय[4] ।

(५) नयका स्वरूप[5] ।

(६) हेतुका स्वरूप[6] ।

(७) स्याद्वादकी प्रभावना और स्वरूप प्रतिपादन ।[7]

(८) वाच्यका स्वरूप[8]

(९) वाचकका स्वरूप[9] ।

(१०) अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तरकथन[10] ।

(११) तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन[11] ।

(१२) अनेकान्तका स्वरूप[12] ।

(१३) अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना[13] ।

(१४) जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप[14] ।

(१५) स्यात् निपातका स्वरूप[15] ।

---

१. स्वयम्भू० ६३ ।

२. आप्तमी० का १०१ ।

३. वही, १०२ ।

४. वही, १०७ ।

५,६. वही, १०६ ।

७. वही, १०४, ११३ ।

८. वही, १११, ११२ ।

९. आप्तमी० १०९, ११० ।

१०. युक्त्य० ५९ ।

११. वही, २३ ।

१२. आप्तमी० १०७, १०८ ।

१३. स्वयम्भू० १०३ ।

१४. आप्तमी० ४८, १०५ ।

१५. स्वयम्भू० १०२ । आप्तमी० १०३ । युक्त्य० ४३ ।

(१६) वाक्योंमें एवकारके प्रयोगकी कल्पना[1] ।

(१७) अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि[2] ।

(१८) युक्तियोंसे सर्वत्र स्याद्वादकी संस्थिति[3] ।

(१९) आप्तका तार्किक स्वरूप[4] ।

(२०) वस्तु (द्रव्य-प्रमेय)का स्वरूप[5] ।

जैन न्यायमें इन उपादानोंका उपस्थापन अथवा विकास करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैन न्यायका आद्य-प्रवर्त्तक[6], स्याद्वादमार्गाग्रणी और स्याद्वाद-तीर्थका प्रभावक कहा गया है ।

(घ) कृतियाँ

समन्तभद्रस्वामीकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनकी जीवसिद्धि जैसी अन्य कृतियोंका भी उल्लेख मिलता है। पर वे अनुपलब्ध हैं। अतः उनकी उपलब्ध कृतियोंका यहाँ संक्षेपमें परिचय प्रस्तुत किया जाता है—

१. देवागम—इसका दूसरा नाम आप्तमीमांसा है। यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ११४ कारिकाएँ हैं। ग्रन्थकारने इसमें वीर-जिनकी परीक्षा करके उन्हें ही सर्वज्ञ एवं आप्त घोषित किया है तथा एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक अनेकान्तवाद एवं स्याद्वादकी प्रस्थापना की है। यह जैन वाङ्मयकी उच्चतम रचना है। इसपर अकलङ्कदेवने अष्टशती (देवागम-विवृति, देवागम-भाष्य), विद्यानन्दने अष्टसहस्री और वसुनन्दिने देवागम-वृत्ति टीकाएँ लिखी है, जो सभी महत्त्वपूर्ण और देवागमके मर्मको स्पष्ट करनेवाली हैं।

---

१. युक्त्य० ४१, ४२ ।

२. आप्तमी० ५ ।

३. वही, ११३ । युक्त्य० ४५ ।

४. आप्तमी० ४, ५, ६ ।

५. वही, १०७ ।

६. जैन दर्शन—स्याद्वादाङ्क (मासिक) वर्ष २, अङ्क ४-५; पृ० १७० ।

२. स्वयम्भू स्तोत्र—इसमें ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंका दार्शनिक शैलीमे गुणस्तवन है। इसपर प्रभाचन्द्रकी संक्षिप्त व्याख्या है।

३. युक्त्यनुशासन—प्रस्तुत कृति है।

४. जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्योंकी आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबीस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गयी है।

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १५० पद्योंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वकी कृति है। इसकी प्रभाचन्द्रकृत एक टीका उपलब्ध है जो संक्षिप्त और सरल है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित है, जो अब अप्राप्य है।

इसमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवी धार्मिक कृतियाँ हैं।

प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या

युक्त्यनुशासनके स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत हिन्दी अनुवादका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। प्रस्तुत हिन्दी-व्याख्या समाजके जाने-माने प्रौढ़ विद्वान् पण्डित मूलचन्द्रजी शास्त्रीने की है। विद्यानन्दकी संस्कृत-टीकाके आधारसे उन्होंने युक्त्यनुशानके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तृत व्याख्यान किया है। आशा है उनकी इस हिन्दी-व्याख्यासे युक्त्यनुशासनके हार्दको समझनेमें स्वाध्याय-प्रेमियोंको अच्छी सहायता मिलेगी।

इस तरह प्रस्तुत प्रस्तावनामें युक्त्यनुशासन और स्वामी समन्तभद्रके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है।

आचार्य श्री महावीरकीर्तिजीके शिष्य वाङ्मयानुरागी, दार्शनिक कृतियोंके अध्ययनमें रुचि रखने वाले और शास्त्र-भण्डारोंकी शोध-खोजमें निरत क्षु० शीतलसागरजी महाराजकी प्रेरणा थी कि मैं आप्तमीमांसा जैसी युक्त्यनुशासनकी भी विस्तृत प्रस्तावना लिखूं। उनकी प्रेरणाको न टाल सका।

यद्यपि अपनी व्यस्तताके कारण इसके लिखनेमें पर्याप्त विलम्ब हुआ, पर महाराजकी धीरता और प्रेरणा दोनों हमें दायित्वका सदा ध्यान दिलाती रहीं। फलतः आज वह पाठकोंके समक्ष है। आशा है महाराज तथा पाठक-गण विलम्बजन्य कष्टके लिए हमें क्षमा करेंगे।

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१० जुलाई, १९६९

दरबारीलाल कोठिया
(न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,
एम० ए०, पी-एच० डी०)

—: युक्त्यनुशासन उत्तरार्ध का शुद्धि पत्र :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
८	१३	पूर्वक की	पूर्वक ही
१४	१३	विजम्भितं	विजृम्भितं
१६	११	उपाय	अपाय
२१	२२	वर्ग	वर्ण
२२	७	जैथे	जैसे
२५	१	अन्तरविशेषा	अन्तर्विशेषा
३५	१५	पर	पद
३६	१८	भिधानभिधेययो	भिधानाभिधेययो
३६	१८	विरोधात्	विरोधात्
४३	३	तथा प्रतिज्ञाशय	तथाप्रतिज्ञाशय
४३	१६	अपवृष्य	अवृष्य
४८	६	कहते हैं।	कहते है ?
४६	१३	वाला	वाला है क्योंकि
५०	२१	दिया है	दिया
५२	७	अपेक्षामान	अपेक्ष्यमान
५४	१३।१४	प्रमाणदेश	प्रमाणादेश
५६	४	ज्ञान	ज्ञात
६८	७	तो	जो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६६	६	विषय	इस विषय को
७०	१०	इससे	इससे वे
७०	१०	विषय हैं।	विषय हैं। इस तरह
७२	४	व्यवस्थ	व्यवस्थं
७३	६	जाय	जाय इसलिये
७६	११	होती	होता
८३	६	वचन	वचन के द्वारा
८६	७	को	का
९१	६	संभावित	संभवित
९८	६	वमतात्	स्वमतात्
९८	१५	प्रतिपादिक	प्रतिपादक
१०३	१०	सामान्य	साम्राज्य
१०६	७	समवायेन	समवाये न
१११	१६	त्रयये	त्रय ये
१२३	३	सायान्य	सामान्य
१२३	११	हालात	हालत (दशा)
१३३	४	विरोधनाद	विरोधवाद
१३५	१४	अन्वथ	अन्वय
१४०	१०	"मृदो:घट:"	"मृदो घट:"
१४०	२१	सर्वशून्यता	सर्व शून्यता रूप है वह
१४२	७	घटानयन	अघटानानयन
१४५	२	सामान्य	सामान्य से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१५१	७	णामन्तरों	णामान्तरों
१५२	९	अनवस्था का	अनवस्था
१५९	८	घटिता	घटिता
१६१	१४	इष्टि	इष्टं
१६७	३	ममेर्द	ममेदं

विशेष—पृ० ३९ मे आये हुए ४३ वें संस्कृत पद्य की प्रथम पंक्ति, पृ. ३६ की ९ वीं पंक्ति के प्रारम्भ में है। संस्कृत टीकाकार आ० श्री विद्यानंदी ने इसी प्रकार लिया है। अतः पंक्ति छूटी हुई नहीं मानना चाहिये। पृष्ठ ४१ से आये हुये मूल संस्कृत पद्यों के क्रम ४४।४५ आदि क्रमशः जानने चाहिये। रेफ, बिन्दु और मात्राओं (˚, ˙, `, ", ि, ी, ो, ौ,) के टूट जाने की साधारण अशुद्धियां कहीं २ पुस्तक में हैं जिन्हें पाठक स्वयं सुधार लेंगे।

—क्षुल्लक शीतलसागर

दातारों की नामावली

श्री स्व. इन्द्रमलजी जैन काला की धर्मपत्नी गुलाबबाई
" मीठालालजी गोपीचन्दजी जैन छाबड़ा चंदलाई (जयपुर)
" फूलचंदजी जैन काला यू. डी. सी. चाकसू (जयपुर)
" दि० जैन समाज बालवाड़ी, चाकसू (जयपुर)
" दि० जैन समाज चनाणी (कौथून-जयपुर)
" भूरामलजी प्रेमचन्दजी जैन बिलाला, सुनारी (वनस्थली)
" भंवरलालजी गुलाबचंदजी जैन निगोत्या, सुनारी
" कल्याणमलजी सूरजमलजी जैन आकोडिया (पद्मपुरा)
" कपूरचंदजी जैन सोगानी, चाकसू (जयपुर)
" भैंरूलालजी जैन अग्रवाल, चाकसू (जयपुर)
" रामगोपालजी जैन अग्रवाल बजाज, चाकसू (जयपुर)
" अनूपचंदजी पदमचंदजी जैन बजाज, चाकसू (जयपुर)
" स्व. हरिनारायणजी जैन बजाज की धर्मपत्नी चाकसू
" रामसहायजी जैन अग्रवाल, चाकसू
" सुन्दरलालजी जैन अग्रवाल, चाकसू
" गुलाबचन्द्रजी जैन अग्रवाल बजाज, चाकसू
" मदनलालजी जैन पटवारी रूपाडीवाले, चाकसू
" पदमचंदजी जैन मौजमाबाद वाले, चाकसू
" गोपीचन्दजी और महावीरप्रसादजी जैन बामनवास (सवाईमाधोपुर)

श्री समन्तभद्र स्वामी विरचितं

★ युक्त्यनुशासनम् ★

(उत्तरार्द्ध)

[विस्तृत हिन्दी विवेचन सहित]

[श्रीमान् तार्किक-चक्र-चूड़ामणि समन्तभद्र द्वारा रचित युक्त्यनुशासन के ३५ पद्यों का विवेचन पूर्वार्द्ध में किया जा चुका है। उससे आगे के पद्यों का विवेचन अब इस उत्तरार्द्ध में किया जा रहा है।

—संपादक]

यदि भूतों के समुदय का कार्य चैतन्य माना जाय, तो इस मान्यता में समस्त चैतन्य शक्तियों में कोई भी भेद प्रतीत नहीं होगा; तब इस दशा में प्रत्येक संसारी प्राणी में जो बुद्धि आदि चैतन्य का भेद प्रतीत होता है, उसके अभाव का प्रसंग मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा तो है नहीं। बुद्ध्यादिकों में भेद प्रतीति तो होती ही है। यदि इस पर चार्वाक यह समाधान दे, कि विशिष्ट भूत, समुदय से उत्पन्न होने से बुद्ध्यादिक विशेषों

की सिद्धि हो जायगी, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, इसी बात को सूत्रकार ३६ वीं गाथा से प्रकट करते हैं—

दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ,
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा प्रपातः ॥३६॥

अन्वय—जननादिहेतौ अविशिष्टे दृष्टे प्रतिसत्त्वं एषां का विशिष्टता। स्वभावतः (विशिष्टतायां सद्भावायां) परस्य सिद्धिः किं न (स्यात्)। (अतः) हा ! अतावकानामपि प्रपातः।

अर्थ—चैतन्य के उत्पादक भूतचतुष्टय में कोई भी विशेषता जब दृष्टि पथ नहीं होती है, तब प्रति प्राणी के प्रति इनकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है। यदि प्रति प्राणी में विशिष्टता स्वभाव से है यह बात स्वीकार की जाय तो इस मान्यता में स्वभावतः आत्मसिद्धि क्यों न मान ली जाय। इसलिये हे नाथ ! आपके अतावकों—आपके सिद्धान्त से बहिर्भूत हुए इन चार्वाकों का भी यह हा ! महाभयंकर पतन है।

भावार्थ—भूत चतुष्टय से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—इस मान्यता का विचार सूत्रकार ने ३५ वीं कारिका में किया है। जिन चार्वाकों का यह सिद्धान्त है कि भूतचतुष्टय से चैतन्य की अभिव्यक्ति न होकर उत्पत्ति होती है, उसका विचार इस कारिका द्वारा सूत्रकार कर रहे हैं। इस कारिका की उत्थानिका

में जो यह उत्पत्तिवादी पर आक्षेप किया गया था कि यदि भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो "प्रतिप्राणि बुद्ध्यादि-चैतन्यविशेषो न स्यात्" प्रत्येक प्राणी में जो बुद्धि आदि का भेद दृष्टिगोचर होता है वह नहीं हो सकेगा" इस पर चार्वाकों का यह समाधान "प्रतिसत्त्वं भूतसमागमस्य विशिष्टत्वाद्विशेष-सिद्धिः" कि "प्रति प्राणी में भूत समुदय की विशिष्टता से बुद्ध्यादिक की विशेषता सिद्ध हो जायगी" ठीक नहीं साबित होता है। कारण कि जब "जननादिहेतौ अविशिष्टे दृष्टे" पृथिवी आदि भूत चतुष्टय में एवं तज्जन्य शरीर, इन्द्रिय एवं विषय संज्ञा में जो कि चैतन्य की उत्पत्ति के हेतु माने जा रहे हैं कोई विशेषता नहीं देखी-पाई जाती है और न दैवसृष्टि ही अंगीकृत की गई है, तब उनकी विशेषता से बुद्ध्यादि कृत विशेषता चैतन्य में कैसे स्वीकारार्ह मानी जा सकती है। कारण कि अविशिष्टता में कार्य में विशिष्टता नहीं आती है। विशिष्टता से ही विशिष्टता आती है। यदि बुद्ध्यादिकों में विशिष्टता प्रचित करने के लिये स्वभाव को उस विशिष्टता का हेतु माना जावे-बुद्ध्यादिकों में विशिष्टता की सिद्धि स्वभाव से ही है-यदि ऐसा कहा जावे तो फिर "किं न परस्य सिद्धिः" चारों भूतों से भिन्न पांचवें आत्मतत्त्व की सिद्धि इसी कथन से क्यों नहीं अंगीकार करली जाय। इस मान्यता में बाधा भी क्या है। "किं भूतकार्यचैतन्यवादेन।" बाधा तो इस भूत कार्य चैतन्य-वाद में है, अतः इस बाधित सिद्धान्त को मानने से लाभ क्या?

यदि इस पर यह कहा जाय कि जो चैतन्य की आप स्वभाव से सिद्धि करना चाह रहे हो सो वह स्वभाव से इसीलिये सिद्ध माना जा सकेगा कि वह कायाकार परिणत भूतों का कार्य है— सो चार्वाक के इस कथन पर सूत्रकार पूछ रहे हैं कि "भूतानि किमुपादानकारणं चैतन्यस्य सहकारीकारणं वा" ये भूत चैतन्य के उपादान कारण हैं अथवा सहकारी कारण हैं। यदि पृथिवी आदिक भूतों को उसका उपादान कारण माना जाय तो उसमें— चैतन्य में भूतों के अन्वय का प्रसंग प्राप्त होगा। जिस प्रकार सुवर्ण से उद्भूत—निर्मित मुकुट में सुवर्ण का अन्वय—वंशरूप सम्बन्ध एवं पृथिवी आदि उपादान कारणक शरीर में पृथिवी आदि का अन्वय चलता है उसी प्रकार भूत समुदय रूप उपादान कारण से जायमान चैतन्य में भी पृथिवी आदिक भूतों का अन्वय चलना चाहिये, परन्तु नहीं चलता। अतः वे इसके उपादान रूप कारण नहीं माने जा सकते। यदि उपादान के अन्वय का तिरस्कार करने के लिये प्रदीप से उद्भूत कज्जल का कि जिसका उपादान कारण प्रदीप है और जिसमें प्रदीप का अन्वय भी नहीं है दृष्टान्त दिया जाय तो यह कथन ठीक नहीं है, कारण कि कौन कहता है कि कज्जल का उपादान कारण दीपक है। दीपक की ज्वाला तो ज्वालान्तर की उपादान कारण है और कज्जल का उपादान कारण तैल, वर्त्ती आदि हैं। अपनी सहायक प्रदीपकलिका को प्राप्त कर तैल ही स्वयं कज्जल रूप से परिणमित होकर ऊपर जाता हुआ दिखाई पड़ता

है। यद्यपि रूपादिकों के साथ समन्वय होने से उस—कज्जल—में तैल का अन्वय नहीं है फिर भी तैलादिक—उपादानता का उसमें अभाव प्रतिपादित नहीं हो सकता है। कारण कि पुद्गल द्रव्य त्रिकाल में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप अपने सत् लक्षण से शून्य नहीं रह सकता है। उसमें सदा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से परिणमन होता ही रहता है। इस अपेक्षा से यद्यपि कज्जल में तैलान्वितता प्रतीत नहीं होती है, परन्तु रूपादिकों के साथ वहां अन्वितता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती ही है। मतलब इसका यह है कि यदि कोई कज्जल को तैल, वर्ती आदि उपादान कारणक मानने पर यह आशंका उपस्थित करे कि कज्जल में तैल का अन्वय न होने से उसे उसका उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? तब इसके समाधान निमित्त टीकाकार कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना। कारण कि पुद्गल का स्वभाव परिणमन स्वरूप है। जो पुद्गल प्रथम तैल रूप से परिणमित—पर्यायाक्रान्त हो रहा था, वही पुद्गल प्रदीपरूप सहकारी सामग्री के वश से अपनी पूर्वावस्था का परित्याग कर अब कज्जल रूप से बदल रहा है। इस प्रकार तैल एवं कज्जल रूप पर्यायों की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य में व्यय एवं उत्पाद होने पर भी रूपादिकों की अपेक्षा से ध्रौव्यरूपता प्रमाणसिद्ध है। कज्जल रूप होना जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय है, उसी प्रकार तैल रूप होना भी पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय है। पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। अतः कज्जल रूप पर्याय

में पुद्गल की अपनी उपादानभूत तैल आदि पर्याय का अन्वय न होकर रूपादिक रूप ध्रौव्य पर्याय का अन्वय स्पष्ट रूप से प्रतीति का विषय आबाल संसार को होता ही है। त्यक्तात्यक्त रूप वाला जो होता है वही उपादान माना गया[1] है। पुद्गल द्रव्य अपने पूर्व तैल स्वरूप रूप का परित्याग कर जिस प्रकार अपने दूसरे अस्थिर रूप कज्जल के साथ स्थिर–अत्यक्तरूप गुणादिकों के अन्वय की अपेक्षा त्यक्तात्यक्त रूपता अंगीकृत करने से अपने में उपादानता घोषित करता है, इस प्रकार से यह उपादानता पृथ्वी आदिक भूतसमुदयों में आती हुई प्रतीत नहीं होती है। ऐसा वहां प्रतीत नहीं होता है कि पृथ्वी आदिक भूत समुदय जब चेतनाकारता को उत्पन्न करता है, तब अपने पूर्वरूप अचेतनाकार का परित्याग कर चेतनाकारता को धारण कर लेता हो एवं इन दोनों अवस्थाओं में अपने निज स्वरूप धारण, ईरण, द्रव्य एवं उष्णता गुणों द्वारा अन्वित प्रतीत होता हो। कारण कि चैतन्य में धारणा आदि गुण स्वभाव के अभाव की प्रतीति होती है। दूसरे बात यह भी है कि अत्यन्त विजातीय पदार्थ अपने से अत्यन्त विजातीय का उपादान हो भी कैसे सकता है। अतः यह मानना चाहिये कि कोई भी पदार्थ अत्यन्त विजातीय कार्य का कर्ता नहीं हो सकता है और न इस प्रकार की प्रतीति ही होती है। भूत समुदय में एवं

---

(१) त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्, पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यं, उपादानमिति स्मृतम्॥

चैतन्य में यदि सत्त्व एवं अर्थ क्रियाकारित्वादि धर्मों के द्वारा सजातीयता मानकर भूतों से सजातीय रूप चैतन्य का उत्पाद कहा जावे तो यह कहना उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार से यदि वहां पर सजातीयता मानी जायगी तो फिर भूतों में भी परस्पर में इन्हीं धर्मों के द्वारा सजातीयता आने से परस्पर में उपादान उपादेय भाव की प्रसक्ति माननी पड़ेगी। यदि यह कहकर उनमें उपादान उपादेय भाव निरस्त किया जाय कि इनके असाधारण धारणादिक निज २ लक्षण भिन्न हैं अतः इनमें उपादान उपादेय भाव नहीं बन सकता है। अतः लक्षणापेक्षया विजातीयता आने से वे सब स्वतंत्र तत्त्व हैं तो फिर इसी प्रकार की मान्यता इन भूत और चैतन्य तत्त्वों में भी कि जिनका लक्षण एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है और इसीलिये जो परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं क्यों नहीं आप मानते हैं। अतः अपने २ असाधारण लक्षणों से सर्वथा जुदे इन भूत और चैतन्य में उपादान उपादेय भाव कैसे घटित हो सकता है। नहीं हो सकता। धारणा आदि लक्षणों वाले भूत चतुष्टय हैं, ज्ञान एवं दर्शन लक्षण वाला चैतन्य है। भूत चतुष्टय का लक्षण चैतन्य में और चैतन्य का लक्षण भूत चतुष्टय में देखा नहीं जाता है, इसलिये यह बात टंकोत्कीर्ण रूप से माननी चाहिये कि ये दोनों तत्त्व परस्पर में अत्यन्त विलक्षण हैं। अतः इन अत्यन्त विलक्षणों—विजातीयों में उपादान उपादेय भाव कैसे युक्त माना जा सकता है? अब रही साधारण सत्त्वादिक धर्मों

की अपेक्षा से सधर्मता की बात, सो इस अपेक्षा से उपादान उपादेय भाव मानने में अतिप्रसंग आता है। जो ऊपर प्रकट किया जा चुका है।

भूतचतुष्टय को चैतन्य का उपादान कारण न मानकर यदि सहकारी कारण माना जावे तो चैतन्य का उपादान कारण कोई और ही दूसरा पदार्थ मानना पड़ेगा। बिना उपादान के किसी भी कार्य की उत्पत्ति उपलब्ध नहीं होती है। "बिना उपादान के भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है" इस बात को साबित करने के लिये यदि शब्द विद्युत् आदि को दृष्टान्त में रक्खा जाय सो भी ठीक नहीं है, कारण कि शब्द विद्युत् आदि बिना उपादान के नहीं हैं। इनका भी उपादान कारण है। "स्वोपादानपूर्वकःशब्दादिःकार्यत्वात् पटादिवत्" कार्य होने से पटादि की तरह शब्दादिक अपने उपादान पूर्वक की उत्पन्न होते हैं। इस अनुमान प्रयोग द्वारा उनमें स्वोपादानता सिद्ध होती है। "अपने सहकारि ताल्वादिक स्थानों के सिवाय उनका स्वोपादान और कोई है ही नहीं" ऐसा कहकर यदि उनमें निरुपादानता प्रकट की जाय सो भी ठीक नहीं, कारण कि शब्दादि पुद्गल द्रव्य--भाषावर्गणादि रूप पुद्गल द्रव्य उनका निज उपादान कारण है ऐसा हम कहते हैं। "पुद्गल द्रव्योपादान एव शब्दादि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवत्" इस अनुमान से घट की तरह बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से शब्दादिक भाषा वर्गणादिक रूप अपने उपादान कारण से ही उत्प-

मान है। यहां पर "बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्" यह हेतु सामान्य से व्यभिचरित नहीं हो सकता है—अर्थात् शंकाकार इस हेतु में सामान्य द्वारा "येनेन्द्रियेण व्यक्तिर्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिः तदभावश्च गृह्यते" "यह कहकर कि जिस इन्द्रिय से जो व्यक्ति ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति—सामान्य भी ग्रहण करली जाती है—अतः बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षता व्यक्ति को विषय करते समय उसके सामान्य में रही—परन्तु उसमें स्वोपादनता रूप साध्य नहीं रहता है" इस प्रकार व्यभिचार दोष उद्भावित नहीं कर सकता है। क्योंकि उसमें बाह्येन्द्रियग्राह्यता आने से स्वोपादनत्व सिद्ध होता है। कारण कि सामान्य सदृश परिणाम स्वरूप माना गया है। इसका आधार अपना मूल द्रव्य होता है। सामान्य जैन दर्शन में एक व्यापक एवं निरवय नित्य नहीं माना है। इसलिये उसमें बाह्येन्द्रिय ग्राह्यता आने से स्वोपादनता सिद्ध ही होती है। जो पुद्गल द्रव्य अपने व्यक्तियों का उपादान कारण है वही उनके सामान्य का भी। "इस प्रकार मानने से सामान्य में अनित्यता आवेगी" सो इस प्रकार की दोषापत्ति हमें मान्य ही है। कारण कि किसी अपेक्षा से हम जैन दार्शनिकों ने उसे अनित्य भी माना है। सर्वथा-नित्य मानने पर सामान्य में स्वप्रत्यय के प्रति हेतुता ही नहीं आ सकती है। सर्वथा नित्यता में सामान्य अपने को विषय करने वाले ज्ञान का जनक ही नहीं हो सकता है। हां! संग्रह-नय का विषयभूत जो सामान्य है उसमें अलबत्ता बाह्येन्द्रिय

प्रत्यक्षता नहीं रहने से स्वोपादनता नहीं मानी गई है। वह अतीन्द्रिय है। परन्तु जहां बाह्येन्द्रिय ग्राह्यता है ऐसा जो व्यवहार नय से सिद्ध पुद्गलस्कंध द्रव्य है वह अवश्य ही द्रव्य पुद्गलोपादानक है। इसलिये "पुद्गल-द्रव्योपादान एव शब्दादिः बाह्येन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वात्" यह अनुमान सर्वथा निर्दोष है। इस अनुमान बल पर शब्दादिक स्वोपादान पूर्वक ही जायमान हैं-जब यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है तो फिर इन्हें संवादक रूप रखकर जो सहकारी मात्र की सहायता से ही बिना उपादान के चैतन्य का उत्पाद (भूतचतुष्टय रूप सहकारी सामग्री से) आप कह रहे हैं वह कैसे माना जा सकता है ? कार्य के जनक उपादान और सहकारी कारण ही होते हैं-यहां इनसे अतिरिक्त तीसरा और कोई कारण ऐसा नहीं है कि जिससे भूतचतुष्टय चैतन्य का जनक स्वीकार किया जा सके। भूतों में चैतन्य के प्रति उपादानता घटती नहीं है तथा बिना उपादान के सहकारी कुछ कर नहीं सकता है तो यह बात ही हे नाथ! मान्य कोटि में आती है कि चैतन्य की स्वभाव से ही भूत विशेष की तरह तत्त्वान्तर रूप से सिद्धि है। इस तत्त्वान्तर सिद्धि का अपह्नव करने वाले जो मतावक हैं-दर्शन मोह के उदय से जिनका चित्त आकुलित है-उन चार्वाकों का भी हा! यह कितना भयंकर संसार समुद्र में गिराने वाला पतन हुआ है।

स्वच्छंदवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।

निघुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्-
त्वद्दृष्टिबाह्या बत विभ्रमन्ते ॥३७॥

अन्वय—जगतः स्वभावात् स्वच्छंदवृत्तेः उच्चैः अनाचारपथेषु (प्रवृत्तिः) अदोषम् (इति) निघुष्य दीक्षासममुक्तिमानाः त्वद्दृष्टि-बाह्याः बत विभ्रमन्ते ।

अर्थ—जगत की स्वभावतः स्वच्छंद वृत्ति होने से निकृष्ट हिंसादिक अनाचार मार्गों में प्रवृत्ति होती है-इसमें कोई दोष नहीं है इस प्रकार प्रतिपादन कर जो मीमांसकादिक परतीर्थिक "दीक्षा के समकालवाली मुक्ति है" इस एकान्त मान्यता में ही साग्रह बने हुए हैं। हे नाथ! वे आपकी स्याद्वादरूप दृष्टि से बाह्य होते हुए, दुःख है कि तात्त्विक निश्चय की अप्राप्ति से इत-स्ततः संसार में या अज्ञान भाव में ही चक्कर काट रहे हैं।

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरिक्तैः
उपेत्य हिंसाभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शांतिरपि प्ररूढं
तमःपरेषां तव सुप्रभातम् ॥३८॥

अन्वय—शमतुष्टिरिक्तैः (अतएव) प्रवृत्तिरक्तैः (मीमांसकैः) उपेत्य, अभ्युदयाङ्गनिष्ठा हिंसा, प्रवृत्तितः शांति अपि (इति कथनं) परेषां तमः प्ररूढं, तव (कथनं) सुप्रभातं (प्ररूढम्)।

अर्थ—शम द्वारा होने वाली तुष्टि से जो रिक्त हैं और इसीलिये प्रवृत्ति-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह में जो

इच्छानुसार अतिशय प्रवृत्त हैं ऐसे यज्ञवादी मीमांसक ने इस प्रवृत्ति को स्वयं अपनाकर "हिंसा अभ्युदयरूप स्वर्गादिक प्राप्ति के कारण की आधार भूत है एवं प्रवृत्ति से शांति भी होती है" इस प्रकार जो प्रतिपादन किया है सो हे नाथ ! वह दूसरों—स्याद्वादसिद्धान्त से बहिर्भूत बने हुए उन मीमांसकों का गाढ अंधकार है और आपका कथन-स्याद्वाद सिद्धान्त मंगलमय प्रभात है।

भावार्थ—हिंसादिक पांच महा—पातकों में बिना किसी नियम के अत्यंत मनमानी प्रवृत्ति का कारण शमतुष्टिरिक्तता है। क्रोधादिकों की शांति का नाम शम एवं संतोष का नाम तुष्टि है। ये मीमांसक शम से जन्य तुष्टि से रिक्त हैं। इसीलिये हिंसादिक महापातक रूप प्रवृत्ति में रक्त हो रहे हैं। "वेदविहित हिंसा, हिंसा नहीं है" इसी प्रवृत्ति से शांति मिलती है इत्यादि समस्त कथन उनका एक प्रकार का गाढ अंधकार ही है—जिसमें इन्हें वास्तविक पदार्थ के स्वरूप का भान ही नहीं हो सक रहा है। अरे कहीं हिंसादिक रूप प्रवृत्ति से भी जीवों को शांति की प्राप्ति हो सकती है ? यह तो उल्टी शांति की महती प्रतिपक्षभूता है। इससे तो रागादिक उद्रेक की ही वृद्धि होती है। अतः यह उसके ही उद्रेक की कारण है—अनुद्रेक रूप शांति की नहीं।

"शान्तिरपि" इस पद में रहे हुए "अपि" शब्द से, मीमांसक यह प्रतिपादन कर रहा है कि "प्रवृत्ति दो प्रकार की

है–एक रागादिक की हेतुभूत, और दूसरी शांति की हेतुभूत। इनमें से जो वेद वाक्य द्वारा अविहित प्रवृत्ति है वह रागादिक के उदय की निमित्त होती है जैसे–ब्राह्मण का वध और सुरा-पान आदि करना। जो वेद–विहित प्रवृत्ति है, वह शांति की हेतुभूत होती है–जैसे यज्ञ के निमित्त पशुवध आदि करना। इस प्रवृत्ति में अदृष्टार्थ प्रयोजकता होने से क्रोधादिक के उदय की निबंधनता का अभाव है।" इस प्रकार से वेदविहित प्रवृत्ति में शांति के प्रति हेतुता का कथन करना ठीक नहीं है–कारण कि ऐसा नियम नहीं बन सकता है कि जो वेदविहित प्रवृत्ति होगी वह नियम से शांति की हेतु होगी। यदि यह नियमित रूप से मान्य रक्खी जाय तो "मातरमुपैहि स्वसारमुपैहि" इस प्रवृत्ति को भी कि जो वेद वाक्यों द्वारा विहित हुई है शांति का हेतु मानना पड़ेगा। एवं वेद में अविहित सत्पात्रों को दान देना आदि रूप प्रवृत्ति में शांति की प्रतिपक्षभूतता की आपत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। यदि मीमांसक इस आक्षेप पर यह समाधान करे कि देवता के आराधन की विधि की तरह परंपरा सम्बन्ध से वेद विहित प्रवृत्ति भी शांति की हेतु बनती है–सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि वेद विहित भी हिंसा-दिरूप प्रवृत्ति परंपरा सम्बन्ध से भी शांति की हेतुभूता नहीं बन सकती है। जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति मद्यजन्य नशा के अभाव करने के लिये मद्यपान में प्रवृत्ति नहीं करते हैं उसी प्रकार शांति के अभिलाषी जन भी शांति के प्रतिकूल इस

हिंसादिक रूप प्रवृत्ति में भी प्रवृत्त नहीं होते हैं। अन्यथा उनमें प्रेक्षा-पूर्वकारित्व का अभाव मानना पड़ेगा। सत्पात्रों को दान देना, देवता का अर्चन करना आदि रूप प्रवृत्ति में यद्यपि सूक्ष्म प्राणियों की वधादि रूप क्रिया होती है परन्तु वह अनभिसंधित है-जान बूझ कर वहां उनकी वधादि रूप क्रिया नहीं की जाती है-वह तो यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी स्वयं हो ही जाती है, एतदपेक्षया वह प्रवृत्ति परंपरा सम्बन्ध से शांति की हेतुभूता बन सकती है-और बनती ही है। कारण कि इन क्रियाओं में दर्शन की विशुद्धि एवं परिग्रह के परित्याग की प्रधानता रहती है-और इसी से यह शांति रूप प्रवृत्ति सब जीवों पर समता भावरूप में प्रकट होती है। अन्यथा उसका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है। इसलिये सूत्रकार ने यह समुचित कहा कि "प्रवृत्तित· शान्तिरिति वचनं महातमोविजृम्भितं" कि "वेदविहित प्रवृत्ति से शांति होती है" इस प्रकार का कथन मीमांसकों का महामोह रूप अंधकार का विलास है। अतः हे नाथ! आपका ही मत समस्त अज्ञान रूप तमस्तोम के निरसन में पटीयस्त्व-समर्थ होने से सुप्रभात स्वरूप है।

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखे-
देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा,
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषां ॥३९॥

अन्वय—आत्मदुःखैः शीर्षोपहारादिभिः देवान् आराध्य किल (त एव) सिद्धयन्ति (ये) दोषापचयानपेक्षाः, सुखाभिगृद्धाः। (एतत्) च तेषां युक्तं, येषां त्वं ऋषिः न।

अर्थ—जीवात्मा के लिये दुःख के निमित्तभूत शीर्षोपहार—अपने अथवा बकरे आदि पशुओं के मस्तक की बलि चढ़ाना आदि कृत्यों से स्वेष्ट देवताओं की आराधना करके निश्चय से वे ही व्यक्ति अपने को सिद्धिपद की प्राप्ति होना मानते हैं जो दोषापचयानपेक्ष—रागादिक दोषों के विनाश करने की अपेक्षा वाले नहीं हैं, एवं सुखाभिगृद्धकाम—सुख आदि में लोलुप बने हुए हैं। अतः हे नाथ! यह बात ऐसों के लिये योग्य ही है। क्योंकि आप उनके गुरु नहीं हैं। जिनके आप गुरु हैं वे इस प्रकार के नहीं हैं।

भावार्थ—सूत्रकार इस कारिका द्वारा यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि हे नाथ! यह गाढान्धतमता उन्हीं मिथ्यादृष्टियों में आती है जो आपके शिष्यत्व से बाह्य हैं। वे बिचारे अपने इष्ट देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उनकी शीर्षोपहार, गुग्गुल का धारण करना, भृगुपतन—पर्वत से गिरना आदि आत्मा—जीव दुःख विधायक निकृष्ट उपायों द्वारा आराधना करने में लगे रहते हैं और इसी से अपनी सिद्धि होना मानते हैं। विषयों के दास बने हुए भला ये क्या जाने कि सिद्धिपद की प्राप्ति बिना दोषों के विनाश हुए नहीं हो सकती है। दोषापचयानपेक्ष में यह हेतुगर्भित कथन है। सुखाभिगृद्ध हैं—इसलिये उसकी

ओर से उन्हें उपेक्षा है। जिनके आप गुरु हैं–जिन्होंने शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को आप प्राप्त हो चुके हैं–इसलिये आपका शिष्यत्व होना अंगीकार किया है ऐसे उन सम्यग्दृष्टियों के पास, कि जो हिंसादिक से विरक्त चित्त हैं एवं जो यह समझ रहे हैं कि दया, दम, त्याग और समाधिनिष्ठ होने से ही आपका शासन अद्वितीय है तथा नय और प्रमाण से विनिश्चित, परमार्थ भूत स्वभाव संपन्न जीवादिक तत्त्वों की प्रतिपत्ति में जिनकी–अन्तः करण की वृत्ति कुशल बनी है, प्रमाद एवं अशक्ति से क्वचित् हिंसादिक रूप प्रवृत्ति का आचरण करते हुए भी जिन्होंका चित्त उसमें कदाग्रह–दुरभिनिवेशरूप पाश से बंधा हुआ नहीं है यह गाढान्धतमता कदम तक नहीं धर सकती है। वे जीव इन शीर्षोपहारादिक हिंसामय कृत्यों से अपनी सिद्धि होना नहीं मानते हैं।

स्तोत्रे[1] युक्त्यनुशासने–इत्यादि–ग्रन्थकार ने युक्त्यनुशासन नाम के इस स्तोत्र में पराकाष्ठा को प्राप्त हुई शुद्धि और शक्ति के धारक जिनेन्द्र वीर प्रभु का अनेकान्त रूप सिद्धान्त सम्पूर्णरूप से निर्दोष अतएव अद्वितीय है इस विषय का निर्णय और अनेकान्त शासन से बाह्य सकल सिद्धान्तों का सदोष एवं

---

(१) स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः,
सम्प्राप्तस्य विशुद्धिशक्तिपदवीं काष्ठां परामाश्रितां।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं, संक्षेपतोऽपाकृतं,
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं, सद्धीधनैर्बुध्यतां ॥

वितथ होने से संक्षेप से निराकरण यहां तक प्रदर्शित किया है यह बात बुद्धिमानों को समझ लेनी चाहिये।

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः,
पदं विशेषान्तरपक्षपाति।
अन्तर्विशेषान्तरवृत्तितोऽन्यत्,
समानभावं नयते विशेषम् ॥४०॥

अन्वय—विविधाः विशेषाः सामान्यनिष्ठाः, पदं विशेषान्तर पक्षपाति अन्तर्विशेषान्तरवृत्तितः अन्यत् विशेषं समानभावं नयते।

अर्थ—अनेक प्रकार के विशेष सामान्य में निष्ठ हैं। पद विशेषान्तर का पक्षपाती है। वह पद विशेषान्तरों के अन्तर्गत अपनी वृत्ति होने से अन्य विशेष को सामान्य रूप में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—७ वीं कारिका में सूत्रकार ने "अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं" इस वाक्य द्वारा अर्थतत्त्व में सामान्यविशेषात्मकता प्रकट की है। प्रत्येक पदार्थ न सामान्यरूप है, न विशेषरूप है और न परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष रूप ही है। किन्तु "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इस सूत्र के अनुसार वह अभेदभेदात्मक—सामान्यविशेषात्मक है। ऐसा होने से ही उसमें नय एवं प्रमाणों द्वारा अबाध्यता का निश्चय होता है और इसीलिये इस मान्यता में अद्वितीयता का कथन किया गया है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि "सामान्यनिष्ठाः

विशेषाः स्युः, विशेषनिष्ठं वा सामान्यं स्यादुभयं वा परस्पर-निष्ठं" विशेष सामान्य में निष्ठ हैं या सामान्य विशेष में निष्ठ हैं अथवा सामान्य विशेष दोनों परस्पर में निष्ठ हैं ? इन प्रश्नों का ही उत्तर सूरिराज-सूत्रकार ने इस कारिका में दिया है। वे कहते हैं विविध विशेष सामान्यनिष्ठ हैं। सामान्य ऊर्ध्वता सामान्य और तिर्यग् सामान्य के भेद से दो प्रकार का है। "परापर-विवर्त्त-व्यापि-द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं" क्रम भावी पूर्व और उत्तर पर्यायों में एकत्व के अन्वय को ग्रहण करने वाले प्रत्यय द्वारा जो द्रव्य ग्राह्य होता है वह ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में एकत्व रूप अन्वय ज्ञान से मिट्टी ग्राह्य होती है। यह मिट्टी ही ऊर्ध्वता सामान्य है। नाना द्रव्यों में एवं अनेक पर्यायों में सादृश्य प्रत्यय द्वारा ग्राह्य जो सदृश परिणमन है वह तिर्यक् सामान्य है। विशेष शब्द पर्यायवाची है। ये पर्यायें अनेक प्रकार की होती हैं। कोई २ क्रमभावी होती हैं और कोई २ सहभावी। ये दोनों प्रकार की पर्यायें यद्यपि प्रत्येक द्रव्य में होती हैं, परन्तु जो जिस द्रव्य की पर्यायें होंगी वे उसी एक द्रव्य में रहेंगी। उत्क्षेपणादिक क्रमभावी पर्यायें अपरिस्पंदरूप होती हैं। ज्ञानादिक गुणरूप सहभावी पर्यायें परिस्पंदरूप हैं। ये साधारण, साधारणासाधारण और और असाधारण के भेद से ३ प्रकार की हैं। सत्व प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म हैं, द्रव्यत्व जीवत्व आदि साधारणासाधारण धर्म हैं। एवं प्रति द्रव्य में भिन्न २ रूप से रहने वाली तथा

प्रतिनियत जो अर्थ पर्याय हैं वे असाधारण हैं। ये समस्त ही विविध प्रकार के विशेष एक द्रव्य में रहने के कारण सामान्य निष्ठ कहे गये हैं, क्योंकि विशेष स्वतन्त्र रूप में रह नहीं सकते हैं। ये समस्त विशेष जिस सामान्य में रहते हैं उस सामान्य का नाम ऊर्ध्वता सामान्य है।

शंका—जिस प्रकार विशेष सामान्यनिष्ठ हैं, उसी प्रकार सामान्य भी विशेषनिष्ठ क्यों नहीं हैं?

उत्तर—यदि सामान्य को विशेषों में परिसमाप्त माना जावेगा तो किसी एक विशेष के अभाव होने पर उसका भी अभाव मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। किसी खास विशेष के उपाय में भी अन्य विशेषों में सामान्य की उपलब्धि तो होती ही है। इसलिये सामान्य का सर्वविशेषों में निष्ठ होना बाधित है। यदि उसे कतिपय विशेषों में निष्ठ माना जायगा, तो इस प्रकार की मान्यता में तद् अन्य विशेष व्यक्तियों में निःसामान्यत्व का प्रसंग आयगा। जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है। दूसरे अशेष विशेषों में सामान्य को निष्ठ मानने पर जो विनष्ट एवं अनुत्पन्न विशेष हैं उनकी अपेक्षा सामान्य में भी विनाश एवं अनुत्पाद का प्रसंग मानना पड़ेगा। यदि इस पर यों कहा जाय कि विशेषों के विनाश होने पर भी सामान्य का विनाश नहीं माना जायगा एवं अनुत्पन्न पदार्थ में भी उसका अनुत्पादक-अभाव नहीं माना जायगा किन्तु अनुत्पन्न पदार्थ में उसकी सत्ता-वर्तमानता अंगीकृत की जायगी

तो इस प्रकार की मान्यता से सामान्य में युगपत् विरुद्ध धर्मों की अध्यासिता—आश्रयता होने से वहां भेद कल्पना का प्रसंग मानना आ जायगा। अतः यह मानना चाहिये कि विशेषों में सामान्य निष्ठ नहीं है।

शंका—द्रव्य, गुण और कर्म इन पदार्थों में समवाय से द्रव्यत्व आदि सामान्य रहता है। ऐसी मान्यता यौगों की है। द्रव्यत्व आदि सामान्य की अपेक्षा द्रव्य, गुण और कर्म ये पदार्थ व्यक्तिरूप विशेष माने गये हैं। इस अपेक्षा से "सामान्य विशेषनिष्ठ है" यदि यह मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—इस अपेक्षा से भी सामान्य को विशेषनिष्ठ नहीं साबित कर सकते। यद्यपि द्रव्यत्व, गुणत्व इत्यादि सामान्य तिर्यक्-सामान्य रूप हैं, परन्तु फिर भी ये अशेष विशेषनिष्ठ सिद्ध नहीं हो सकते हैं। कारण कि यौगों ने द्रव्य नौ माने हैं। उनमें कुछ कार्यरूप—अनित्य द्रव्य हैं और कोई २ नित्य हैं। जब द्रव्यत्व रूप सामान्य की अपने सकल द्रव्य रूप व्यक्तियों में निष्ठा मानी जायगी, तब उन द्रव्यों में जो काय द्रव्य रूप व्यक्ति हैं उनके विनाश से उस द्रव्यत्वरूप सामान्य का भी विनाश मानना पड़ेगा। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये "द्रव्यत्व सामान्य" कतिपय—नित्यद्रव्यों में रहता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो इनसे भिन्न अनित्य द्रव्यों में निःसामान्यत्व का प्रसंग आयगा जो अनिष्ट है। यदि च अनित्य द्रव्यों में भी सामान्य का सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जाय कि सामान्य नित्य

और सर्वगत है इसलिये उसका सम्बन्ध तदन्तरालवर्ती अनित्य द्रव्यों में भी हो जायगा सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, कारण कि जब सामान्य स्वयं नित्य है तब उसके रहने से उन अनित्य द्रव्यों में भी नित्यत्व का प्रसंग मानना पड़ेगा। नित्यत्व के प्रसंग से द्रव्यों में नित्य और अनित्य का विभाग कब नहीं बन सकेगा। यदि द्रव्यों में नित्यानित्य विभाग साबित करने के लिये यह कहा जाय कि जिस प्रकार वृक्षत्व रूप सामान्य से सम्बद्धित भी शिंशपा आदि व्यक्तियों में नित्यता नहीं आती उसी प्रकार व्यापक द्रव्यत्वरूप सामान्य से सम्बद्धित व्याप्य—अनित्य द्रव्यरूप व्यक्तियों में भी नित्यता नहीं आ सकती। सामान्य के नित्य रहने पर तदधिष्ठित व्यक्तियों में नित्यता मानने की आवश्यकता ही क्या है। व्याप्य के अभाव में भी व्यापक के सद्भाव में कोई विरोध नहीं आता है। सो इस कथन से यही पुष्ट होता है कि सामान्य में ही व्यक्ति निष्ठ हैं व्यक्तियों में निष्ठ सामान्य नहीं है। क्योंकि सामान्य रूप आधार के अवस्थित रहने पर ही विशेषों के उत्पाद और विनाश होता है। इसी प्रकार दोनों को निरपेक्षरूप से परस्पर सिद्ध मानना भी ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता में दोनों का अभाव ठहरता है। इनके अभाव में सामान्य विशेषात्मक वस्तु की भी सिद्धी नहीं हो सकती है।

शंका—यदि सामान्यनिष्ठ विशेष हैं तो फिर यह आशंका होती है कि वर्ग समूहात्मक पद किसका बोधक होता है?

सामान्य का, या विशेष का, या तदुभय–सामान्य विशेष का, अथवा अनुभय सामान्य विशेष रहित का ?

उत्तर—पद विशेष का बोधक होता है । क्योंकि "पद विशेषान्तरपक्षपाति" है । द्रव्य, गुण और कर्म के भेद से पद तीन प्रकार का होता है । द्रव्य में प्रवर्त्तमान पद द्रव्य द्वारा विशेषान्तर रूप गुण एवं कर्म का भी बोधक–प्रकाशक होता है । जैसे "दण्डी" यह पद संयोगी–दण्ड और पुरुष द्रव्य द्वारा द्रव्य रूप देवदत्त आदि में प्रवर्त्तमान होता हुआ दंड और पुरुष का संयोग सम्बन्ध रूप गुण का एवं उभयगत कर्म का भी प्रकाशक होता है । यदि "दंडी" यह पद अन्य विशेषान्तरों गुण कर्म को स्वीकार न करे तो "दंडी" इस पद की किसी एक विशेष में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इसी तरह "विषाणी" यह पद समवायि द्रव्य–विषाण और विषाणवान् गाय आदि को विषय करता है क्योंकि "विषाणी" इस पद से दोनों समवायियों का बोध होता है । साथ में उनके धवलादि गुण का एवं उनकी क्रिया का भी बोधक होता है । "शुक्ल" यह पद भी गुण द्वारा द्रव्य में प्रवृत्त होकर गुण को विषय करता हुआ अपने साथ अन्वय रखने वाले द्रव्य को एवं कर्म को भी विषय करता है । उनका भी प्रकाशक होता है । मतलब कहने का यह है कि द्रव्य, कर्म एवं गुण इनमें से किसी एक में प्रवर्त्तमान पद दूसरे विशेषों का भी प्रकाशक होता है । यदि ऐसा न हो तो उसकी किसी भी विशेष में प्रवृत्ति नहीं बन सकती

है। हां, इतना अवश्य है कि जिस विशेष में उच्चरित पद होगा वह उसकी मुख्य रूप से और अन्य विशेषों की गौणरूप से प्राप्ति करायेगा। इसलिये इसे विशेषान्तर पक्षपाती कहा है। विशेषान्तरों में जिसका पक्षपात स्वीकृत हो उसका नाम विशेषान्तर पक्षपाती है। इस प्रकार विशेषान्तर पक्षपाती होने से पद की अन्य विशेषान्तरों के अन्तर्गत वृत्ति सिद्ध होती है। और इसीसे यह द्रव्य, गुण, और कर्मरूप विशेषों में पक्षपात रखने वाला दूसरे जात्यात्मक विशेष को सामान्य रूप में भी प्राप्त कराता है। जैसे "गौ" यह पद गोत्व जाति द्वारा द्रव्य में प्रवर्त्तमान होता हुआ भी स्वाश्रय भूत द्रव्य विशेष नीली पीली गाय आदि को सामान्य रूप में-समान भाव-सदृशपरिणमन-में प्राप्त कराता है। इसी तरह "गुणत्व" यह जाति पद गुणत्व जाति द्वारा गुण में वर्तमान होता हुआ स्वाश्रयभूत गुण को जो कि विशेष रूप है जाति रूप में—सामान्य रूप में—"कर्मत्व" यह जाति परक पद कर्मत्वजाति द्वारा कर्म-में प्रवर्त्तमान होता हुआ स्वाधिकरण कर्म को जो कि विशेष रूप है समान भाव में प्राप्त कराता है। इसी प्रकार अन्य जाति विशेषों में भी समझ लेना चाहिये। सूत्र में "नयते" यह द्विकर्मक धातु है। इसलिये "समान-भावं नयते विशेषं" ऐसा पाठ रक्खा गया है। नहीं तो "समानभावे नयते विशेषं" ऐसा पाठ होता है। जब पद विशेषों को समान भाव में प्रकाशित कराता है, उस समय वह सदृश परिणमन रूप सामान्य को मुख्य रूप से एवं विशेष को गौण

रूप से कथित करता है। इस तरह पद सामान्य और विशेष दोनों को प्रतिपादित करता है। इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि विशेष की अपेक्षा न रखता हुआ सामान्य एवं सामान्य की अपेक्षा न रखता हुआ विशेष ये दोनों स्वतंत्र रूप में पद के वाच्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि परस्पर निरपेक्षता में इनमें अवस्तु रूपता आ जाती है। अतः खर विषाण या कूर्म रोमादि की तरह ये पद द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकते। "नापि सामान्यं केवलं विशेषनिरपेक्षं पदं प्रकाशयति तस्याप्यसंभवात्।" पद का अर्थ न जाति है और न व्यक्ति है। किन्तु परस्पर सापेक्ष सामान्य और विशेष ही पद का अर्थ है। इसीलिये परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष पद का अर्थ न होने से तन्मात्र में प्रवर्तमान पद में असत्यता मानी गई है। इसी तरह सामान्य विशेष रहित पदार्थ का भी आवेदन पद नहीं करता है। क्योंकि ऐसा पदार्थ भी दार्शनिकों की दृष्टि में अवस्तु भूत है। अतः पद सामान्य विशेषात्मक जात्यन्तर रूप वस्तु का प्रधान और गौण रूप से प्रतिपादन करता हुआ यथार्थता को उल्लंघन नहीं करता है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण की तरह प्रतिपत्ता को उससे ही वस्तु में प्रवृत्ति और प्राप्ति घटित होती प्रतीत होती है। अतः नाम, आख्यात, निपात एवं उपसर्ग तथा कर्म प्रवचनीय के भेद से जो वह पद चार या पांच प्रकार का अन्य सिद्धान्त कारों ने माना है—अथवा सुबन्त और तिङन्त के भेद से उसे जो दो प्रकार का भी माना गया

है-सो वह पद अन्तरविशेषान्तरवृत्ति होने से विशेषान्तर पक्ष-पाती होता हुआ विशेष को समान भाव में प्राप्त कराता है। निष्कर्ष इसका यही है कि सामान्य में विशेष निष्ठ हैं। सामान्य का नाम द्रव्य और विशेष का नाम पर्याय है। द्रव्यों में पर्याय रहती हैं। वर्णसमूह रूप पद सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का ही प्रकाशन करता है। सामान्य को भी वह जब प्रकाशित करेगा तो विशेष का तिरस्कार नहीं करेगा। इसी तरह विशेष के प्रकाशन में भी सामान्य का वह अपलापक नहीं होगा। मुख्य एवं गौण की विवक्षा वह उनके प्रकाशन में रखता है। इसलिये पद विशेषान्तर पक्षपाती माना गया है। और इसीलिये विशेषान्तरों के अन्तर्गत उसकी वृत्ति होने से वह दूसरे जात्यात्मक-गोत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य रूप विशेषों को भी प्रकाशित कराता है।

विशेषान्तर पक्षपाती होने स पद विशेष को समानभाव में तथा विशेषान्तर में वृत्ति होने से सामान्य को विशेष रूप में भी प्राप्त कराता है।

अब-"अस्त्येव जीवः" इस प्रकार के अवधारण करने में दोष का कथन सूत्रकार करते हैं—

यदेवकारोपहितं पदं तद्
अस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति।
पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

अन्वय—यत् पदं एवकारोपहितं तत अस्वार्थतः स्वार्थं अवच्छिन्नत्ति पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं (अवच्छिन्नत्ति) (अन्यथा) विरोधिवत् पदार्थहानिः स्यात् ।

अर्थ—जो वर्ण समूहरूप पद एवकार ("स्यात्" के बिना अवधारणार्थक "एव" इस शब्द) से युक्त होता है वह अस्वार्थ से पदार्थ को भिन्न कराता है । इसी प्रकार वह पर्याय, सामान्य एवं विशेष इन सबसे भी अपने वाच्य-अर्थ को भिन्न कराता है । ऐसी स्थिति में विरोधी की तरह स्वाभिधेय पदार्थ की हानि होती है ।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक द्वारा "अस्ति जीवः" इस पद के साथ "एवकार"-अवधारणार्थक "एव" इस शब्द का प्रयोग करने पर क्या दोष आता है इस विषय को स्पष्ट करते हैं । वे कहते हैं अवधारण करने से पद अस्वार्थ से स्वार्थ का व्यवच्छेद कराता है । यह बात सर्वमान्य है । "जीव एव अस्ति" यहाँ एव शब्द से विशिष्ट जीव है । इसलिये "जीव एव" इस पद का अर्थ जीवत्व है और वही इसका स्वार्थ है । इससे विपरीत अजीव अस्वार्थ है । कारण कि "जीव एव" ऐसा कहने से अस्तित्व विशिष्ट जीव का ही बोध होता है—वही इस पद का वाच्य है, अजीव आदि नहीं, क्योंकि वे इस पद के वाच्य—स्वार्थ नहीं हैं । इसी से "जीव एव" इस पद द्वारा अजीवादिक अस्वार्थ से अपने स्वार्थ-वाच्य जीवत्व का व्यवच्छेद कराया जाता है । इसी प्रकार "जीव एव" यह पद जीव की, सुख ज्ञानादिक

पर्यायों का, द्रव्यत्व, चेतनत्व आदि सामान्य का और अभिधान के अविषयभूत अनंतानंत अर्थ पर्यायों का भी अस्वार्थ होने के कारण व्यवच्छेदक होता है। क्योंकि "जीव एव" इस पद के विरोधी-अजीवादिक की तरह ये भी अस्वार्थ ही हैं। यदि इन्हें भी उसका स्वार्थ माना जावे तो फिर सुख आदि एवं द्रव्यत्व, चेतनत्व आदि पदों का जो भिन्न २ रूप से प्रयोग किया जाता है वह सब व्यर्थ ही ठहरता है। जब एक ही पद से अन्य पदों के स्वार्थ का भी बोध-ग्रहण हो जाता है तो यह स्वाभाविक है कि उन २ अर्थों के प्रकाशक भिन्न २ शब्दों का प्रयोग करना निरर्थक ही है। तथा च-अहं सुखी, द्रव्यमहं, चेतनोऽहं इत्यादि पदों का जब प्रयोग करना ही व्यर्थ-क्योंकि जीव पद से ही इन सब का जब कथन सिद्ध हो जाता है-सिद्ध होता है तो इन पदों के स्वतंत्र प्रयोग करने की क्या आवश्यकता रहती है-कुछ नहीं। परन्तु ऐसा तो है नहीं। इन पदों का अपने २ अर्थ को प्रकट करने के लिये स्वतंत्र प्रयोग तो हुआ है। अतः यह मानना चाहिये-या मानना पड़ता है कि "जीव एव" इस पद के ये सब अजीवत्वादिक की तरह अस्वार्थ हैं। अतः जिस प्रकार यह पद अपने अर्थ को अपने विरोधी अस्वार्थ-अजीवत्वादिक से निवृत्त करता है उसी प्रकार से इन अपनी पर्यायों से अपने-सामान्यों से एवं अपने विशेषों से भी अस्वार्थ होने से अपने आपको भिन्न करने वाला इस-"एव" के सम्बन्ध से होता है। ऐसी परिस्थिति में अपनी निजी पर्याय आदि के अभाव में जीवादिक

कोई भी वस्तु संभवित नहीं हो सकती हैं। इसलिये यह मानना चाहिये कि स्यात् पद के बिना उच्चरित अवधारणार्थक एवकार एकान्त की पुष्टि का कारक होने से इस पूर्वोक्त रीति से दूषित ही ठहरता है, स्वाभिधेय की भी पुष्टि नहीं कर सकता है। क्योंकि उसका निज स्वरूप ही कोई सिद्ध नहीं होता है। अतः निज स्वरूप के अभाव में अपने अभिधेय की हानि स्वतः सिद्ध होती है। यदि यह कहकर कि "जीव एव" यह पद अपने स्वार्थ की सिद्धि ही कराता है-हानि उसकी इसके उच्चारण से नहीं होती है-क्योंकि वह अपने प्रतियोगी अजीव का ही व्यवच्छेदक होता है, अप्रतियोगी पर्याय एवं सामान्यादिकों का नहीं। क्योंकि वे उस समय अविवक्षित हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार के कथन से स्याद्वाद सिद्धान्त की मान्यता ही अहीत सिद्ध होती है। जो एकान्त मान्यता के विपरीत पड़ती है। स्याद्वाद सिद्धान्त में ही कथंचित् विवक्षा और अविवक्षा की अपेक्षा स्वार्थ और अस्वार्थ घटित होते हैं। अन्यत्र नहीं।

समस्तपद एवकार से रहित हैं इस द्वितीय मान्यता में दूषण प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि।
पर्यायभावेऽन्यतराप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥४२॥

अन्वय—यत् (पदं) अनेवकारं (तत्) अनुक्ततुल्यं । (यतः) नियमद्वयेऽपि व्यावृत्त्यभावात् । (तथा सति) पर्यायभावे, अन्यतरायोगः तत् सर्वं अन्यच्युतं (सत्) आत्महीनं (प्रसज्येत) ।

अर्थ—जो पद एवकार के प्रयोग से रहित है वह अनुक्त-तुल्य—न कहे हुए के समान है। क्योंकि उससे नियमद्वय के—"अस्त्येव" इस प्रकार पूर्व अवधारण के "जीव एव" इस प्रकार के उत्तर अवधारण के—इष्ट होने पर भी एवकार के अभाव में व्यावृत्ति का अभाव होता है। व्यावृत्ति न होने पर अस्ति नास्ति आदि पदों में पर्यायभाव का प्रसंग आता है। इसलिये अन्यतर पद के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। ऐसी हालत में, समस्त वस्तुएँ अन्य—प्रतियोगी से रहित होती हुई अपने निज स्वरूप से भी हीन रहित हो जाती हैं।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक द्वारा यह बात प्रकट कर रहे हैं कि जो पद अवधारण रूप एवकार से रहित होता है, वह नहीं कहे हुए के ही बराबर समझना चाहिये। जिस प्रकार नहीं कहा गया पद अपने अर्थ का प्रत्यायक नहीं होता, उसी प्रकार "अस्तिजीव" यह पद एवकार से रहित होने पर अस्ति के विरोधी-प्रतिपक्षी नास्तित्व का एवं जीव के विरोधी-प्रतिपक्षी अजीवत्व का व्यवच्छेद—व्यावृत्ति नहीं कराता है। "अस्ति" तिङन्त एक पद "जीवः" सुबन्त दूसरा पद है। अस्ति का विरोधी नास्तित्व है और जीव का विरोधी अजीवत्व है। अस्ति पद में एवकार नहीं होने से जो उसके सद्भाव में तत्प्रति-

योगी नास्तित्व की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती थी वह नहीं हो सकती। इसी प्रकार जीव पद में "एव" इस शब्द के अभाव में अजीवत्व की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। इन दोनों की निवृत्ति के अभाव में घट और कुट शब्द में पर्यायवाची होने से एकार्थता की तरह अस्ति और जीव पदों से भी अपने प्रतियोगी अर्थों का प्रतिपादन होने लगेगा। "अस्ति" शब्द से नास्तित्व का और नास्ति शब्द से अस्तित्व का, जीव शब्द से अजीवत्व का और अजीव पद से जीवत्व का भी कथन करने का प्रसंग होगा। इस प्रकार "अस्ति जीव" पदों में स्वप्रतियोगियों के साथ एकार्थ प्रतिपादकता होने से पर्यायवाचित्व–पर्यायभाव प्रसक्त होता है। पर्यायभाव की प्रसक्ति में फिर हर एक पद से हरएक पद के अर्थ का प्रतिपादन जब होने लगता है तो फिर घट अर्थ को प्रतिपादन करने वाले घट, कलश पद में से किसी एक पद के प्रयोग की तरह अस्ति नास्ति आदि पदों में से भी किसी एक ही पद का प्रयोग करना पड़ेगा। ऐसा नहीं होगा कि अस्तित्व अर्थ को प्रतिपादन करने के लिये अस्ति पद और नास्तित्व अर्थ को प्रतिपादन करने के लिये नास्ति पद का प्रयोग भिन्न रूप से करना पड़े। अर्थात्–वस्तु जिस प्रकार अपने अस्ति पद के अर्थ–अस्तित्व से विशिष्ट है, उसी प्रकार वह उसके नास्तित्व रूप अर्थ (जो कि अस्ति शब्द का वाच्य प्रसंग रूप से सिद्ध किया गया है) से भी विशिष्ट है, ऐसी हालत में "अस्ति" पद की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। "अस्ति" पद जीव में अस्तित्व

अर्थ सिद्ध करता है या नास्तित्व, सुनने वाले के लिये ऐसा कोई निश्चय नहीं हो सकता। अतः एवकार के अभाव में वह पद अनुक्ततुल्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव पद के साथ भी यही समझना चाहिये। क्योंकि जब उसके साथ भी एवकार का प्रयोग नहीं किया जायगा तब वह भी अजीवत्व का व्यावर्त्तक न होने से अजीवत्व का भी प्रतिपादक हो जायगा—तब "जीव" इस पद की भी कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती है। अतः—

"तदन्यतराप्रयोगे च सर्वमभिधेयं वस्तुजातमन्येन प्रतियोगिनाच्युतं-त्यक्तं स्यात् अस्तित्वं नास्तित्वरहितं भवेत्" एवकार के अभाव में जब "अस्ति एवं नास्ति" पदों में तथा "जीव एवं अजीव पदों में परस्पर में पर्यायभाव बन जाता है तो इस स्थिति में विवक्षित अभिधेय को कहने के लिये परस्पर प्रतियोगी अस्ति नास्ति पदों में से चाहे जिस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। चाहे जिस शब्द के प्रयोग में अथवा अन्यतर के अप्रयोग में घट अथवा कुट शब्द जिस प्रकार एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार परस्पर प्रतियोगी शब्दों-पदों द्वारा भी एक ही अर्थ का प्रतिपादन होगा, इस अवस्था में समस्त अभिधेय वस्तुजात अन्य प्रतियोगी शब्दों से रहित हो जायगा अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व से रहित हो जायगा। इस प्रकार सत्ताद्वैत की आपत्ति सामने आकर खड़ी हो जाती है। अब यहां विचारना यह है कि यह सत्ताद्वैत नास्तित्व के अभाव में आत्महीन ही सिद्ध होता है। कारण कि पररूप की जब तक

व्यावृत्ति इसमें नहीं होगी–तब स्वरूपोपादनता इसमें प्रथित ही नहीं हो सकती है। घट में स्वरूप-सत्ता तब तक नहीं आ सकती है कि जब तक उसमें अघट की व्यावृत्ति न हो जाय। उसी प्रकार सत्ताद्वैत की भी स्वरूप सत्ता तब तक साबित नहीं हो सकती कि जब तक उसमें नास्तित्व रूप प्रतियोग की व्यावृत्ति प्रसिद्ध न हो जांय। परन्तु नास्तित्व के अभाव में उसकी उससे व्यावृत्ति सिद्ध ही कैसे हो सकती है। इसलिये यह सत्ता-द्वैत अन्य प्रतियोगी से च्युत होकर आत्महीन अपने निज स्वरूप से विहीन ही मानना पड़ता है। मतलब इसका यही है कि अस्तित्व और नास्तित्व ये दो परस्पर सापेक्षिक शब्द हैं। अस्तित्व नास्तित्व की और नास्तित्व अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। जब अपना प्रतिपक्षी पद ही नहीं है तो उसके अभाव में एक दूसरे की स्वरूप सत्ता कैसे उपपन्न हो सकती है। अस्तित्व जब बिना नास्तित्व के अपनी स्वरूप सत्ता स्थापित नहीं कर सकता है तब वह अन्यच्युत आत्महीन ही मानना पड़ता है। इसी प्रकार नास्तित्व भी अपने प्रतिपक्ष अस्तित्व पद से च्युत–राहत होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम नहीं कर सकता है। यद्यपि सर्वथा नास्तित्व के सद्भाव की मान्यता में शून्यवाद का प्रसंग आता है है, परन्तु सत्ताद्वैत की तरह इस वाद की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि "न चाभावो भावमन्तरेण संभवति" भाव और अभाव यह जब परस्पर सापेक्ष पद हैं तो भाव के अभाव में अभावरूप नास्तित्व की स्वतंत्र सत्ता कैसे कायम हो

सकेगी। यह विचारने जैसी बात है। घट अस्तित्व बिना उसका अभाव प्रतिपादन नहीं हो सकता। इस प्रकार शून्य के स्वरूप से भी अभाव होने पर उसके पररूप के अपोहन—अभाव का संभव नहीं बन सकता। घट में जब तक स्वरूप से सत्ता नहीं आजाती, तब तक उसके शश्वत् अपटरूप के अपोहन का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। क्योंकि पररूप के अपोहन करने के लिये निज में स्वरूप से सत्ता की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु स्वरूपसत्ता अपने प्रतियोगी के असद्भाव में बन ही नहीं सकती। वस्तु का वस्तुत्व तो इसी में है कि जहां पर-रूप के अपोहन पूर्वक स्वरूप का उपादान होता है। यदि यहां पर यह शङ्का की जाय कि जिस प्रकार वस्तु में वस्तुत्व प्रख्यापन के लिये पररूप के अपोहन की अनिवार्य आवश्यकता होती है उसी प्रकार अवस्तु के अपोहन की भी आवश्यकता अनिवार्य है—अवस्तु के अपोहन से ही तो वस्तु का अस्तित्व है—वस्तुत्व है—इसके बिना नहीं। तथा च सति वस्तु से भिन्न कोई अवस्तु नाम की चीज प्रसिद्ध हो जाती है—सो ऐसा कहना भी संगत नहीं है। कारण कि वस्तु के सिवाय सकल स्वरूप से शून्य अवस्तु पृथक् और कोई चीज नहीं है। वस्तु ही पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवस्तु रूप से मानी जाती है। "वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्।" इसलिये कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रतिपक्ष भूत अवस्तु से वर्जित होकर आत्मलाभ करनेवाली हो। अतः सूत्रकार का यह कथन "सर्वमन्यच्युतमात्महीनं" सर्वथा

संगत ही है। सुदूर जाकर भी यदि वादी किसी इष्ट तत्त्व को असत्यहीन नहीं मानना चाहता है तो उसे उस इष्ट तत्त्व को अन्य प्रतिपक्षी पद से हीन नहीं मानना चाहिये। परस्पर सापेक्षता में प्रतियोगी पदों में पर्यायमात्र भी अङ्गीकृत इस प्रकार से नहीं हो सकता है। इसलिये "जीवः अस्ति" इन पदों में अवधारणार्थक एवकार से विशिष्टता अङ्गीकार करनी चाहिये। इस एकान्त मान्यता में ४१ वें श्लोक द्वारा दूषण प्रदर्शित किया ही जा चुका है।

शंका—एवकार और अनेवकार विशिष्ट पद प्रयोग में दूषण भले ही आओ, परन्तु जहां इनका प्रयोग ही नहीं किया जायगा वहां तो दूषणों का प्रवेश होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में सामान्यवाची पद अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग और शब्दान्तर की सन्निधि से विशिष्ट का ज्ञान करा देंगे। व्यवहार की ऐसे ही प्रणाली चलती है।

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है अर्थ प्रकरण आदि द्वारा पद की स्थिति यदि एवकारार्थक विशेष में कराई जाती है तो एवकार युक्त पद के प्रयोग करने के पक्ष में जो दोष प्रदर्शित किये जा चुके हैं वे ही दोष इस पक्ष में भी आते हैं। यदि एवकार के अर्थ से रहित भिन्न विशेष में सामान्यवाची पद की प्रकरण आदि द्वारा स्थिति कराई जाती है तो इस प्रकार की मान्यता में एवकार रहित पद के प्रयोग करने के पक्ष में जो दूषण अभी २ प्रकट किये हैं वे आते हैं। इसलिये बिना एवकार के पद का प्रयोग नहीं करना चाहिये। एवकार सहित पद के

प्रयोग में जबकि पहिले प्रदर्शित की ही जा चुकी है।

यदि "तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनं" ४२ वीं कारिका के इस अन्तिम पाद को असत्य घोषित करने के लिये भावैकान्तवादी अथवा अभावैकान्तवादी इस प्रकार कहे कि "अस्तीति पदेन अभिधेयं अस्तित्वं अनेवकारेणापि अन्येन तत्प्रतिपक्षभूतेन नास्तित्वेन च्युतं न भवति तस्य तदभेदित्वात्–तत्सर्वथा शून्यवादिनो नास्तित्वव्यतिरेकेणास्तित्वे च वचने नात्महीनं प्रसंजनयितुं शक्यमिति" "अस्ति" यह पद जो अपने अभिधेय–अस्तित्व का कथन करता है और जिसके साथ एवकार का सम्बन्ध नहीं किया जाता है तो भी अपने प्रतिपक्ष-नास्तित्व से–"नास्ति" इस पद द्वारा कथित "नास्तित्व" इस अभिधेय से–हीन नहीं होता है क्योंकि अस्तित्व, बिना नास्तित्व के असंभवित है। अपना अस्तित्व अपने में पर का नास्तित्व ही है। इस अपेक्षा से अस्ति पद का वाच्य अस्तित्व "नास्ति" पद वाच्य नास्तित्व से भिन्न नहीं होता है। इसीलिये अस्ति पर नास्तित्व का अभेदि-भेदक नहीं है। "अस्ति" इस पद का अभिधेय अपने प्रतिपक्ष भूत "नास्ति" पद के अभिधेय से शून्य नहीं होता है। इसी प्रकार "नास्ति" पद बिना एवकार के जिस अपने अभिधेय-नास्तित्व का कथन करता है उसका भी वह अभिधेय "अस्ति" इस पद के अभिधेय से विहीन नहीं होता है, नास्तित्व के बिना अस्तित्व की असंभवता है। अपने में पर का अस्तित्व नहीं होना ही अपना नास्तित्व है। इस अपेक्षा से "नास्ति"

पद का वाच्य नास्तित्व अपने प्रतिपक्षी अस्ति पद वाच्य अभि-धेय से भिन्न नहीं ठहरता है । अतः एक अभिधेय में अन्य अभिधेय के सद्भाव से "अन्यच्युत" इस विशेषण की सार्थकता ही जब संगत नहीं बैठती, तब फिर इनमें आत्म हीनता—स्वरूप-सत्ता की प्रतिष्ठा का अभाव—कैसे आप प्रतिपादन करते हैं"—सो इस प्रकार के कथन से प्रतियोगी पदों को अभेदी बताकर "तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनं" इस अन्तिम पद को असत्य नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि—

"विरोधि चाभेद्यविशेषभावात्" यह कथन—अस्ति पद का अभिधेय नास्ति-पद के अभिधेय से तथा नास्ति पद का अभिधेय अस्ति पद के अभिधेय से सर्वथा अभेदी है—विरोधी है। सूत्रस्थ "च" शब्द यह प्रकट करता है कि इस प्रकार का कथन स्वतन्त्र अस्तित्वैकान्त अथवा नास्तित्वैकांत में आत्महीनता ही नहीं प्रकट करता किन्तु उनमें विरोध भी है, यह प्रकट करता है। कारण कि इस प्रकार के कथन से सकल विशेषों का अभाव हो जाता है। इसका खुलासा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये— "नास्तित्वं अस्तित्वात् सर्वथाऽप्यभेदि येनाभिधीयते तस्य तद्विरोधः भेदवान् भवेत् सत्ताद्वैतेऽभिधानाभिधेययो विरोधात्"। सत्ताद्वैतवादी जब अपने अभिमत सत्ताद्वैत को सिद्ध करने के लिये इस प्रकार कहता है कि "अस्ति" पद के अभिधेय—सत्ताद्वैत से "नास्ति" पद का अभिधेय नास्तित्व-सर्वथा अभेदी-अभिन्न है, तब अस्ति और नास्ति पदों में एवं इन दोनों के

अभिधेय में जो परस्पर में विरोध है वह उन दोनों में अतः उनके अभिधेय में भेद का कर्ता हो जायगा क्योंकि सर्वाद्वैत में अभिधान और अभिधेय का विरोध है। कारण कि सर्वाद्वैत मानने पर सकल विशेषों—भेदों का अभाव हो जाता है। इस मान्यता में यह अभिधेय है यह अभिधान है इस प्रकार का विशेष भेद नहीं बन सकता है। अद्वैत में इस द्वैत का क्या काम। यदि विशेष के सद्भाव के लिये "अनाद्यविद्यावशात्" यह कहा जाय कि अनादि अविद्या के वश से विशेष का सद्भाव बन जाता है सो ऐसा कथन भी उचित नहीं है। कारण कि इस मान्यता से विद्या और अविद्या इस प्रकार के अन्य विशेष का प्रत्यापन होता है जिससे द्वैतापत्ति आती है। अथवा "अस्तित्व से नास्तित्व सर्वथा अभेदी है" ऐसा कथन 'न केवलं आत्महीनं" केवल आत्महीन ही नहीं है किन्तु विरोधी भी है। यह बात "च" शब्द से सूत्रकार ने प्रदर्शित की है। क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व रूप विशेष—भेदों का विशेष के—भेद के अभाव में सर्वाद्वैत में अभाव हो जाता है। तथा जो सर्वाद्वैतवादी "अस्तित्व और नास्तित्व में अभेद है" इस प्रकार कहता है उसके इस कथन से यह बात मालूम होती है कि उसने इनका कथंचित् भेद पहिले स्वीकार किया है—नहीं तो वह यह कैसे कह सकता, कि इन दोनों में अभेद है। "अस्तित्व नास्तित्व में अभेद है" इस प्रकार कथन उनके भेद का प्रतिबंधक है। परन्तु यह प्रतिबंध तब तक सार्थक नहीं बन सकता है कि जब तक अस्तित्व और

नास्तित्व परस्पर में किसी भी अपेक्षा से भेदी न हों। प्रतिषेध्य के अभाव में प्रतिषेध करना यह नियम विरुद्ध पड़ता है। अरे! भला जब इनमें पहिले से भेद ही नहीं है तो ये "अभेदी" हैं इस प्रकार का स्थापन क्यों कर हो सकता है? यदि इस पर यह समाधान दिया जाय कि शब्द अस्ति नास्ति एवं विकल्प के भेद से भिन्न २ रहने वाले इन अस्ति नास्ति पदों में स्वरूप के भेद का ही हम प्रतिषेध करते हैं, शब्दापेक्षया ये भले ही भिन्न २ रहें, परन्तु इनके स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है, ऐसा हम जाहिर करते हैं तो भी जब तुम वास्तविक रीति से इन दोनों शब्दों में एवं इनसे उत्थ अस्ति नास्ति रूप विकल्पों में भेद स्वीकार ही नहीं करते हो तो इनके अर्थ रूप संज्ञी में-अस्तित्व नास्तित्व रूप अभिधेय में-भेद के अभाव में अभेद-भेद का निराकरण कैसे कर सकते हो। भेद हो तो उसका निराकरण किया जा सकता है। यदि शब्द और विकल्प में भेद स्वीकृति के लिये पराभ्युपगम को माना जाय-दूसरे ऐसा-भेद-मानते हैं इसलिये हम भी ऐसा मान लेंगे-सो भी ठीक नहीं है। कारण कि इस सत्ता द्वैतवाद में स्व और पर का भेद मान्य ही नहीं हुआ है, और ऐसा न हो सकने से पराभ्युपगम की सिद्धि भी नहीं बनती है। पराभ्युगम को साधने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि विचार से पहिले स्व और पर का भेद प्रसिद्ध ही है, सो यह भी उचित नहीं है, कारण:- इस वाद में-सत्ताद्वैत में-पूर्वकाल एवं उत्तरकाल इस प्रकार से कालभेद की भी सिद्धि

नहीं हो सकती है। इसलिये यह मानना चाहिये कि विशेष के अभाव में इस सत्ताद्वैत की मान्यता में सर्वथा भेद नास्तित्व और अस्तित्व रूप अविशेष में भिन्नता—के अभाव में "इन दोनों में अभेद है" इस प्रकार का कथन विरोधी है ही।

शंका—यदि यही बात है कि अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों परस्पर में विरोधी हैं तो एक ही वस्तु में स्याद्वादी अस्तित्व के साथ इस नास्तित्व का प्रतिपादन कैसे करते हैं? क्योंकि उसका तो अस्तित्व के साथ विरोध है। अस्ति पद के साथ एव लगाने से नास्तित्व का इसीलिये व्यवच्छेद हो जाता है। एव साथ में न लगाकर केवल अस्ति के उच्चारण से उसका कथन करना असंभव हो जाता है। कारण कि एवकार रहित पद अनुक्त सम प्रकट किया गया है। अतः प्रकारान्तर के अभाव से इसे सर्वथा अवाच्य ही मानना चाहिये क्या? इस प्रकार की आशंका का समाधान सूत्रकार इन तीन पदों से करते हैं।

तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः
क्रियाद्यसंधिश्च तथांगभावा—
दवाच्यता श्रायसलोप हेतुः ॥४३॥

अन्वय—गुणतः तद्द्योतनः स्यात् (इति) निपातः। तथा अंगभावात् विपाद्यसंधिश्च (स्यात्)। अवाच्यता श्रायसलोप हेतुः। (अतो न युक्ता)।

अर्थ—वाक्य में गौण रूप से उस विरोधी धर्म का द्योतक "स्यात्" यह शब्द होता है। यथा यह "यह वस्तु का अंश है" इस प्रकार से विधान-निषेध धर्म की संधिरूपता होता है।

सर्वथा अवक्तव्यता श्रायस—मोक्ष अथवा आत्महित के लोप की हेतु होती है (इसलिये वह युक्त नहीं है)।—

भावार्थ—"अस्तित्व के साथ नास्तित्व का विरोध होने से स्याद्वादी इसे उसके साथ कैसे मानते हैं-" इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार प्रकट करते हैं कि वाक्य में "स्यात्" इस निपात का जो प्रयोग होता है वह अपने विरोधी धर्म का द्योतक होता है। स्याद्वादी विरोधी धर्म के द्योतक इसी निपात का वाक्य में प्रयोग करते हैं। यद्यपि "स्यात्" शब्द किसी खास धर्म का द्योतक नहीं होता है-परन्तु जब वाक्य में अस्ति शब्द के साथ उसका प्रयोग किया जायगा—तब वह अस्ति पद में यह विशेषता पैदा कर देता है कि जिससे वह पद अपने अर्थ—विधि को—अस्तित्व को मुख्य रूप से प्रकाशित करता है, और गौण-रूप से प्रतिषेध-नास्तित्व-को। तथा "स्यात्" यह निपात ही "अस्ति नास्ति" दोनों ही वस्तु के अवयव हैं। इस प्रकार से प्रकाशित कर अस्तित्व के समय नास्तित्व को और नास्तित्व के समय अस्तित्व को जोड़े रहता है। इसलिये किसी भी धर्म में सर्वथा अवाच्यता नहीं आती है। इसकी एकान्त मान्यता तो श्रायस के लोप का हेतु ही होती है। श्रायस शब्द का अर्थ मोक्ष है। एकान्त अवाच्यता में निश्रेयस तत्त्व में भी उपाय तत्त्व की तरह अवाच्यता आने से उपाय और उपेयतत्त्वों का कथन ही नहीं हो सकता है। उनके कथन हुए बिना तद्विषयक उपदेश संभवित नहीं हो सकता। उपदेश के बिना उसके उपाय का

अनुष्ठान भी कैसे बन सकता है। जब उपाय का अनुष्ठान ही उपपन्न नहीं हो सकता तब मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसलिये सर्वथा अवक्तव्यता ठीक नहीं है। ठीक यह मार्ग है—कि स्यात्कार से चिह्नित और एवकार से युक्त पद ही सार्थक होता है—इस प्रकार की मान्यता में किसी भी धर्म में सर्वथा अवक्तव्यता आने की आशङ्का ही नहीं रहती है—इसलिये ऐसे ही पद का प्रतिपादन करना चाहिये।

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेध-युक्तिः।
इति त्वदीया जिन-नाग! दृष्टिः
पराप्रधृष्या पर-धर्षिणी च ॥ ४५ ॥

अन्वय-(शास्त्रे लोके च) तथा प्रतिज्ञाशयतः (प्रतिपदं स्यादिति निपातस्य) अप्रयोगः। वा सामर्थ्यतः प्रतिषेधयुक्तिः। इति जिननाग! त्वदीया दृष्टिःपराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च।

अर्थ—शास्त्र एवं लोक में उस प्रकार की प्रतिज्ञा में अभिप्राय के वश से हरएक पद में "स्यात्" इस निपात का प्रयोग प्रतीत नहीं होता है। अथवा सामर्थ्य से ही प्रतिषेध की युक्ति (स्याद्वादियों को) घटित हो जाती है—इसलिये भी प्रतिपद में "स्यात्" इस निपात का प्रयोग प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार से हे जिननाग! आपकी दृष्टि सर्वथा एकान्तवादियों द्वारा अबाधित एवं एकान्त तत्त्व का धर्षक करने वाली है।

भावार्थ—सूत्रकार ने इस श्लोक द्वारा "जब स्यात्कार से चिह्नित एवं एवकार से युक्त पद ही सार्थक है तब शास्त्र में एवं लोक में जो उसका प्रतिपद में अप्रयोग देखा जाता है उसका क्या कारण है –प्रतिपद में इस अपेक्षा से उसका प्रयोग होना चाहिये" इस आशंका का समाधान किया है । वे इसमें प्रकट करते हैं कि लोक एवं शास्त्र में जो पद पद के प्रति उसका अप्रयोग दिखाई पड़ता है उसका एक कारण तो तथा प्रतिज्ञाशय है । "स्याज्जीव एव" इस प्रकार की जो प्रतिपादन करनेवाले की प्रतिज्ञा है उसमें उसका इसी प्रकार का आशय–अभिप्राय-सन्निहित है । प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति जब भी जिस पद का प्रयोग करता है उसके अभिप्राय में एवकार के प्रयोग की तरह "स्यात्" इस निपात का प्रयोग समाविष्ट रहा करता है । वह यही समझता है कि मैंने जिस पद का प्रयोग किया है उसमें स्यात् और एवकार का प्रयोग सन्निहित ही है । जैसे–शास्त्र में "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादि पदों में कहीं पर स्यात्कार एवं एवकार का प्रयोग नहीं हुआ है तो भी अन्य शास्त्रकार–स्याद्वादी इन अप्रयुक्त दोनों के प्रयोग को जान लेते हैं–क्योंकि "उनके तथा प्रतिज्ञाशय का सद्भाव है" वे यह अच्छी तरह जानते हैं । अथवा–जो स्याद्वादी होते हैं उनके सर्वथा एकान्त के व्यवच्छेद की युक्ति सामर्थ्यगम्य होती है । जिस प्रकार एवकार के प्रयोग बिना सम्यग् एकान्त का अवधारण नहीं हो सकता है, उसी प्रकार स्यात्कार प्रयोग के बिना

अनेकात्मकत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिये जो अनेकान्तवादी होगा उसके द्वारा यदि किसी पद में एवकार और स्यात् पद का प्रयोग न भी हुआ होगा—तो भी वहां तथा प्रतिज्ञाशय के वश से यह जाना ही जायगा। अन्यथा वह स्याद्वादी-अनेकान्तवादी नहीं माना जा सकता। यद्यपि "सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" इस कारिका में स्यात् का साक्षात् शब्दतः उल्लेख नहीं है—तो भी "स्वरूपादिचतुष्टयात्" इस पद द्वारा स्यात्कार के अर्थ की प्रतिपत्ति हो रही है। जैसे—"कथंचित्ते सदेवेष्टं" इस कारिका में कथंचित् इस पद से उसके प्रयोग की प्रतिपत्ति हुई है। इसी प्रकार लोक में "घटमानय" इत्यादिक प्रयोगों में "स्यात्" इस शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है—तो भी यहां पर भी तथा प्रतिज्ञाशय के वश से अथवा सामर्थ्य से उसका प्रयोग हुआ ही है, ऐसा जान लेना चाहिये। इस प्रकार हे जिनकुञ्जर! आपकी यह अनेकान्तमय दृष्टि प्रमाण और नय द्वारा प्रसिद्ध अर्थवाली होने से सर्वथा एकान्तवादियों द्वारा अप्रधृष्य है और भावैकान्तवादियों को—उनके अभिमततत्त्वों को-प्रधर्षिणी—निराकृत करनेवाली है।

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी
स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४६॥

अन्वय—विधिः निषेधः च अनभिलाप्यता (अमी) एकशः त्रिः-(पदस्य विकल्पाःसन्ति)। द्विशः त्रिः (भवन्ति) । (त्रिसंयोगजः) एक एव। (एवं) स्यात् शब्दनेयाः अमी त्रयः विकल्पाः सकले अर्थभेदे तव सप्तधा (भवन्ति) ।

अर्थ—"स्यात् अस्ति एव" इस प्रकार का कथंचित् विधि-रूप प्रथम विकल्प "स्यात् निषेध एव" इस प्रकार का कथंचित् निषेध-नास्तिरूप-द्वितीय विकल्प और "स्यादनभिलाप्यता एव" इस प्रकार का कथंचित् अवक्तव्यरूप तृतीय विकल्प—स्यादस्ति एव, स्यान्नास्ति एव स्यादवक्तव्यमेव ये एक एक करके तीन विकल्प—पद के होते हैं । द्विसंयोगज भंग तीन होते हैं । त्रिसंयोगज भंग एक ही होता है । इस प्रकार स्यात् शब्द के द्वारा नेय ये तीन मूल विकल्प समस्त जीवादिक तत्त्वार्थ पर्यायों में हे नाथ ! आपके यहां सात प्रकार के हो जाते हैं ।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक द्वारा सप्तभगों का संक्षेप से कथन कर रहे हैं । इसमें वे सर्व प्रथम जिस प्रकार से सप्त भंगी बनती है उस प्रकार का प्रदर्शन करा रहे हैं । वस्तु में अनन्त धर्म हैं और ये अनन्त धर्म सप्तभंगी के विषय भूत हैं—प्रत्येक धर्म सप्त भंगी से युक्त है—इस प्रकार यद्यपि अनन्त सप्तभंगी बन जाती है—परन्तु मूल में उसके बनने की पद्धति क्या है इस विषय का यहां पर विचार किया जा रहा है । प्रत्येक जीवादिक पदार्थ में प्रथमतः अस्तित्व गुण को लेकर सप्तभंगी की घटना इस प्रकार घटित होती है—इस अस्तित्व गुण के विषय में मूल

में ३ विकल्प इस प्रकार हैं—१ स्यादस्त्येव यह अस्तित्वगुण की विधि है-इसमें स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से जीवादिक पदार्थ में अस्तित्व गुण की ही प्रधानरूप से विवक्षा हुई है।

स्यान्नास्त्येव इसमें किसी अपेक्षा से-पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा स-जीवादिक पदार्थ में नास्तित्व-गुण की ही प्रधानरूप से विवक्षा हुई है।

इन दोनों धर्मों का कथन किसी भी शब्द द्वारा युगपत् नहीं हो सकता है इसलिये वस्तु किसी अपेक्षा से अवक्तव्यकोटि में ही आ जाती है। इस प्रकार स्यादवक्तव्यमेव इस तृतीय विकल्प का सृजन हुआ है।

इनके विपक्षभूत धर्म की संयोजना रूप से द्विसंयोगी विकल्प तीन होते हैं-जैसे-अस्ति और नास्ति की संयोजना से स्यादस्तिनास्त्येव इस प्रकार का चतुर्थ भंग बन जाता है। यद्यपि जीवादिक पदार्थों में प्रथम भंग और द्वितीय भंग द्वारा अस्तित्व एवं नास्तित्व का किसी अपेक्षा से प्रतिपादन हो चुकता है परन्तु इस चतुर्थ भंग द्वारा इन दोनों अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की विवक्षा क्रमशः प्रधानरूप से होती है। प्रथम एवं द्वितीय भंग में एक-एक धर्म की ही क्रमशः प्रधानता प्रकट करने में आती है।

तृतीय अवक्तव्य भंग के साथ प्रथम भंग का संयोग होने से स्यादस्ति अवक्तव्यमेव इस पंचम भंग की सृष्टि होती है। इस

भंग द्वारा जीवादिक पदार्थों में किसी अपेक्षा से क्रमशः अस्तित्व गुण की प्रकटता करते हुए युगपत् उभयधर्मों की विवक्षा वश अवक्तव्यता ही प्रकट की जाती है।

स्यान्नास्ति अवक्तव्यमेव—इस षष्टम भंग द्वारा किसी अपेक्षा वश जीवादिक पदार्थों में क्रमशः नास्तित्व धर्म की प्ररूपणा करते हुए युगपत् उभय धर्मों को प्रतिपादन करने की अशक्यता वश अवक्तव्यता प्रकट की जाती है। इस प्रकार ४ चतुर्थ, ५ पंचम और षष्ठम ये ३ तीन भंग द्विसंयोगज होते हैं। सप्तमभंग त्रिसंयोगज है— इसमें प्रथमभंग, द्वितीयभंग और तृतीय-अवक्तव्यभंग का संयोग हुआ है इसलिये स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव इस प्रकार यह सप्तमभंग बनता है। इसमें अस्ति आदि धर्मों की क्रमशः एवं युगपत् विवक्षा प्रकट करने में आई है। इस प्रकार मूल में प्रदर्शित तीन विकल्प ही परस्पर में क्रम और युगपत् की अपेक्षा से एक दूसरे विकल्प से संयुक्त होकर सप्त विकल्पों में परिणत हो जाते हैं। "सकलेऽर्थभेदे" इस विशेषण द्वारा सूत्रकार इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि यह सप्त भंगी किसी एक पदार्थ में ही घटित नहीं होती है अपितु समस्त जीवादिकतत्त्वार्थ पर्यायों में घटित होती है। क्योंकि "प्रतिपर्यायं सप्तभंगी" ऐसा प्रभु का आदेश है। "तव" इस शब्द से सूत्रकार ने इस बात की पुष्टि की है कि यह सप्तभंगी प्रक्रिया हे नाथ! आपके ही शासन में बनती है—

अन्य एकान्तवादियों के यहां नहीं। "स्याच्छब्दनेयाः" इस विशेषण द्वारा यह बात प्रदर्शित की गई है कि जो कोई यह आशंका करते हैं कि "जिस प्रकार अस्तित्व धर्म के प्रति विचार ग्रस्त हुए व्यक्तियों को उस धर्म को समझाने के लिये "स्यादस्त्येव" इस प्रकार से पद प्रयोग के योग्य होता है उसी प्रकार "स्यान्नास्त्येव" इत्यादि बाकी के पदों का भी उसी समय प्रयोग करना चाहिए– अर्थात् उसी समय बाकी के अवशिष्ट ६ पद भी प्रयोग के योग्य होना चाहिये। क्योंकि वचन मार्ग की व्यवस्थिति सात प्रकार से प्रकट करने में आई है।" सो उनकी यह आशंका ठीक नहीं है, कारण कि जिस प्रकार विधि– अस्तित्व में शंकाशील व्यक्ति ने शंका की– और स्याद्वादी ने उसकी आशंका की निवृत्ति के लिये "स्यादस्त्येव" इस प्रकार शब्द द्वारा विधि विकल्प का प्रयोग किया। ऐसे समय में अन्य अवशिष्ट ६ विकल्प "स्यात्" इस शब्द द्वारा नेय रहते हैं "न पुनः प्रयोगमर्हन्ति" उस समय वे शब्द द्वारा पुनः प्रयोग के योग्य नहीं होते हैं, कारण कि "स्यात्" इस पद द्वारा उनके अर्थ में विवाद का अभाव प्रकट कर दिया जाता है। हां, यदि नास्तित्व आदि धर्मों में विवाद हो जाय तो क्रमशः उनके प्रयोग करने में भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि एक प्रतिपाद्य के भी एक २ धर्म में सात प्रकार से विप्रतिपत्तियों का सद्भाव होता है। सात प्रकार की विप्रतिपत्तियों के होने का कारण भी वहां सात प्रकार के संशयों का होना है। सात प्रकार के संशयों के

होने का कारण भी उन्हें सात प्रकार से ही जानने की इच्छा का प्रादुर्भाव है । जिज्ञासा में भी सप्तविधत्व की उपपत्ति का कारण उतने ही प्रकार के प्रश्नों का होना है । "प्रश्न के वश से किसी एक जीवादिक वस्तु में उसी प्रकार से उसने अन्य नास्तित्व आदि धर्मों का भी व्यवच्छेद कर दिया है । फिर "स्यात्" शब्द से उनका द्योतन होना कैसे आप कहते हैं । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि "स्यात्" शब्द अनेकान्त का द्योतक कथमपि नहीं हो सकता । इसी प्रकार वह अनेकान्त-अनेक धर्मों का वाचक भी नहीं माना जा सकता– कारण कि यदि "स्यात्" इस पद के प्रयोग से ही यदि उसकी प्रतिपत्ति मानी जाय तो अस्ति आदि पदों का प्रयोग करना ही निरर्थक हो जाता है । फिर भी इन पदों का प्रयोग करना आप इष्ट मानें तो इससे लाभ के स्थान में पुनरुक्ति नाम का ही दूषण गले पड़ता है" इस प्रकार की आशंका का उत्तर सूत्रकार इस नीचे के श्लोक से देते हैं–

स्यादित्यपि स्यात् गुणमुख्यकल्पै–
कान्तो यथोपाधि विशेषवीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं
द्विधा भवार्थव्यवहारवत्वात् ॥४७॥

अन्वय– (नयादेशात्) स्यादित्यपि (निपातः) गुणमुख्यकल्पैकान्तः स्यात् । (सः) यथोपाधि विशेषवीक्ष्यः । तत्त्वं तु अनेकान्तम् (अनेकान्त।–

त्मकम्)। अशेषरूपम्। (तत्) भवार्थव्यवहारवत्वात् द्विधा (व्यवस्थितं)।

अर्थ— नयों की विवक्षा से "स्यात्" यह निपात भी गुण और मुख्य रूप स्वभावों द्वारा कल्पित एकान्त वाला हो जाता है। क्योंकि वह विशेषण के अनुसार भिन्न २ विशेष— धर्म का द्योतक होता है। तत्त्व अनेकात्मक है। वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। वह तत्त्व भवार्थवान् होने से और व्यवहार होने से दो प्रकार से व्यवस्थित है।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक द्वारा "स्यात्" शब्द अनेकान्त का वाचक अथवा द्योतक इस प्रकार से होता है इस बात का उत्तर रूप समर्थन करते हैं—

"गुणमुख्यकल्पैकान्तः" इस पद द्वारा अनेकान्त का वाचक अथवा द्योतक स्यात् शब्द गुण और मुख्य स्वभाववाला होकर किस प्रकार से एकान्त वाला बिना किसी विरोध के विधि और प्रतिषेध की कल्पना करने का नाम सप्तभंगी है" इस प्रकार का वार्तिककार का कथन है। जिस प्रकार अनेक प्रति-पाद्यों को समझाने के लिये अनेक प्रतिपादकों में स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि सप्तभंगी-आत्मक वचन प्रयोग अविरुद्ध माना जाता है उसी प्रकार एक प्रतिपादक में भी एक प्रतिपाद्य को समझाने के लिये सप्तभंगी-आत्मक वचन का विन्यास विरोध को प्राप्त नहीं होता है।—

शंका- "स्यात्" यह निपात अनेकान्त का गौण रूप से

या प्रधानरूप से द्योतक है या वाचक है ? यदि गौण रूप से "स्यात्" पद को अनेकान्त का द्योतक माना जाय तो इस कथन में अनेकान्त के वाचक अन्य पद द्वारा भी गुण रूप से ही अनेकान्त में वाच्यत्व का प्रसंग होगा क्योंकि सर्वत्र पद के द्वारा अभिधेय में ही निपात के द्वारा द्योतकता शक्य होती है। पद के द्वारा अनुक्त अर्थ का यदि उस स्यात् निपात से द्योतन माना जायगा तो ऐसी स्थिति में उसमें वाच्यता की ही प्रसक्ति होगी कारण कि उस पदके प्रयोग की सामर्थ्य से ही उस अर्थ की प्रतिपत्ति हुई है। यदि यहां ऐसा कहा जाय कि "अस्ति" इस पदके द्वारा प्रधान रूप से अस्तित्व का कथन किया जाता है और "स्यात्" इस निपात पद द्वारा अस्ति इस पद से अनुक्त अन्य नास्तित्व आदि धर्म गौण रूपसे द्योतित-प्रकाशित-किये जाते हैं। इस प्रकार मुख्य और गौण कल्पना से अनेकान्त की प्रतिपत्ति "स्यादस्त्येव" इस पद से हो जाती है, सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि "अस्ति" इस पद से अनुक्त अन्य नास्तित्व आदि धर्मों का द्योतन यदि "स्यात्" इस पद द्वारा माना जायगा तो ऐसी अवस्था में उससे सर्वार्थ के द्योतन का प्रसंग होगा। सर्वार्थ के द्योतन के प्रसंग को हटाने के लिये यदि यह कहा जाय कि उनका तो एवकार ने व्यवच्छेद कर दिया है—सो ऐसा कथन भी युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता क्योंकि जिस प्रकार एवकार ने अन्य सर्वार्थों का व्यवच्छेद कर दिया है होता है यह सर्व प्रथम प्रकट किया जाता है—

अनेकान्त द्योतक या वाचक स्यात् शब्द में गुण और मुख्य स्वभावों की कल्पना नयाधीन मानी गई है। यद्यपि स्यात् शब्द अनेकान्त का ही वाचक अथवा द्योतक माना गया है, परन्तु उसमें जो कल्पित एकान्त रूपता बतलाई जा रही है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय और व्यवहार नय की अपेक्षा की मुख्यता और गौणता से ही जाननी चाहिये। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से अस्त्वैकान्त मुख्य हो जाता है और इसके अलावा नास्तित्व आदि एकान्त गौण पड़ जाते हैं क्योंकि इस नय की दृष्टि में उनकी प्रधानता रूप से विवक्षा नहीं की जाती है। विवक्षा नहीं की जाने से उनकी ओर इसकी तिरस्कार भरी दृष्टि हो सो बात भी नहीं है। उस तरफ़ सिर्फ यह गजनिमीलिका ही धारण करता है। उनका यह निराकरण नहीं करता है। निराकरण नहीं करने का कारण भी एक यही है कि अस्तित्व यदि इतर नास्तित्व आदि अपने प्रतिपक्षियों से निरपेक्ष हो जाता है तो उसकी कोई क़ीमत नहीं हो सकती —उसकी स्वतन्त्रसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। ऐसा कोई अस्तित्व संभवित नहीं है जो नास्तित्व आदि से निरपेक्ष हो। इस प्रकार यह "स्यात्" पद उस अस्तित्वैकान्त का प्रधान रूप से द्योतक माना जायगा—क्योंकि "अस्ति" इस पद के साथ उसका प्रयोग हुआ है। शेष नास्तित्व आदि धर्मों का यह गौण रूप से प्रकाशक माना जायगा। कारण कि यहां पर उनकी उस पद से विवक्षा नहीं हुई है। इसी प्रकार व्यवहार नय की प्रधानता से नास्तित्वैकान्त

मुख्य हो जाता है और अस्तित्व आदि धर्म गौण पड़ जाते हैं। कारण कि "नास्ति" इस पद द्वारा उसकी ही विवक्षा होती है, अन्य की नहीं। उस समय अन्य धर्म अविवक्षित एवं अनिराकृत हैं। यदि नास्तित्व की विवक्षा में अस्तित्व आदि धर्मों का निराकरण कर दिया जाय तो अस्तित्व आदि के अभाव में नास्तित्व की कूर्म रोम आदि की तरह स्वतन्त्र उपपत्ति नहीं बन सकती है। इस प्रकार नास्तित्व आदि के द्वारा अपेक्षामाण वस्तु का अस्तित्व स्यात् इस पद द्वारा द्योतित किया जाता है। क्योंकि "स्यान्नास्ति" यहां पर नास्ति के साथ संप्रयुक्त वह नास्तित्व धर्म की व्यवस्था वहां प्रधानभाव से करेगा और बाकी के धर्मों की व्यवस्था गौण रूप से। इस तरह यह जो इसमें मुख्य और गौण रूप स्वभावों की कल्पना से जो एकान्त धर्म की द्योतकता प्रकट की गई है वह नयों की प्रधानता एवं गौणता से ही आई है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शङ्का—यदि "स्यात्" शब्द के प्रयोग से ही जब अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है—तो अस्ति आदि पदों के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है। ये तो इस स्थिति में निरर्थक ही साबित होते हैं।

उत्तर—अस्ति पदों का प्रयोग अनर्थक नहीं होता है। कारण कि यद्यपि स्यात् शब्द के प्रयोग से सामान्य रूप में अनेकान्त का द्योतन हो जाने से अस्तित्वरूप आदि अर्थ का भी

बोध हो सकता है, तो भी विशेषरूप में अस्तित्व आदि धर्मों का बोध कराने के लिये अस्ति आदि शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। इसी बात को प्रकट करने के लिये सूत्रकार ने "यथोपाधिविशेषवीच्य:" यह पद श्लोक में निहित किया है।

स्यात् पद जिस विशेषण के साथ प्रयुक्त होगा उसके अनुसार ही वह वस्तु में विशेष--धर्मान्तर का द्योतक होगा यह पहिले कहा जा चुका है। मतलब कहने का यह है कि जैसे "स्याद्-स्त्येवजीव:" इस पद में अस्तिपद के साथ प्रयुक्त एवकार जीव में अस्तित्व धर्म की ही स्थापना करेगा--क्योंकि उसके द्वारा नास्तित्व आदि धर्मों का व्यवच्छेद हो जाता है इस अपेक्षा से अन्य धर्मों का तिरस्कार हो जाने से जीव वस्तु में सर्वाङ्गीण वस्तुता सिद्ध नहीं हो सकती--दूसरे नास्तित्व की व्यावृत्ति में उसमें अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये स्यात् पद के प्रयोग से इतना लाभ होता है कि वह प्रयुक्त पद के अर्थ का मुख्य रूप से कथन या द्योतन करता हुआ बाकी के अन्य धर्मों का भी वहां पर अस्तित्व द्योतित करता है। बाकी धर्म वहां अविवक्षित होने से अतिरस्कृत हैं और जिस धर्म का वहां प्रतिपादन किया जा रहा है वह वहां प्रधानरूप से विवक्षित है। यही स्पष्ट बात यह स्यात् शब्द द्योतित या कथित करता है। इस कथन से जिस धर्म की वहां विवक्षा हुई है--उसे सर्व रूप से प्रधानता नहीं दी जाती है। कारण कि इस मान्यता में एकान्तता आती है।

सम्यग् एकान्त की व्यवस्था स्यात् पद नयों का सहारा लेकर करता है। यही "यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः" का फलितार्थ है।

इसी बात की पुष्टि टीकाकार ने "धर्मेधर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः" इस आप्तमीमांसा की कारिका द्वारा की है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु की प्रत्येक धर्म में भिन्न २ प्रयोजनादि रूप व्यवस्था उन २ पदों से प्रयुक्त धर्मों द्वारा की जाती है। इसलिये स्यात् शब्द के साथ २ उन २ भिन्न २ प्रयोजन प्रदर्शक अस्तित्वादि धर्मों का प्रयोग बाधित नहीं होता है। सामान्य में अन्तर्भूत होने पर भी वृक्षन्यग्रोध आदि विशेष पदों के प्रयोग की तरह विशेष धर्म प्रदर्शक शब्दों का प्रयोग अदुष्ट माना गया है।

धर्म के भेद से वस्तु का कथन करना यही नयादेश है और विशेष इसी का नामान्तर है। यह प्रमाणादेश नहीं है। प्रमाणादेश में अशेष धर्मों का काल आत्म रूप आदि की अपेक्षा से अभेदवृत्ति अथवा अभेद के उपचार से कथन युगपत् होता है। वहां मुख्य और गौण की व्यवस्था नहीं मानी गई है। "जीवादितत्त्वमपि तर्हि प्रधानगुणभूतैकान्तमायातमिति न शङ्कनीयम्" इस नयादेश के कथन से यहां पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि अनेकान्त स्वरूप जीवादि स्वरूप भी तब तो प्रधान और गुण भूत रूप एकान्त को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि तत्त्वं त्वनेकान्तमशेष रूपं" इस पद द्वारा सूत्रकार ने यह व्यवस्था

दी है कि तत्त्व तो अनेकान्त रूप ही हैं । जब यह नय का विषय होता है तब उसमें वह मुख्य गौण रूप एकान्त माना जाता है, प्रमाण की अपेक्षा से नहीं । इसकी अपेक्षा में तो वह सकलादेश कहा गया है । "प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यात् अभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः" (स्याद्वादमंजरी) प्रमाण से प्रतिपन्न अनन्त धर्म स्वभाववाली वस्तु के कालादिक द्वारा अभेद वृत्ति अथवा अभेद के उपचार की प्रधानता से उन २ धर्मों का युगपत् प्रतिपादन करने वाला जो वचन है वही सकलादेश है । यह सकलादेश प्रमाणाधीन होता है । नयाधीन नहीं । एकान्त ही नयाधीन माना गया है । इसीलिये अनेकान्त को भी अनेकान्त स्वरूप जैनाचार्यों ने प्रतिज्ञात किया है । इस बात की पुष्टि "अशेषरूपं" इस पद द्वारा सूत्रकार ने की है । "स्याज्जीव एव स्याद्जीव एव" यह प्रमाण वाक्य से कैसे कहा जाता है इस प्रकार की आशंका का उत्तर सूत्रकार ने "द्विधाभवाभंव्यवहारवत्वात्" इस वाक्य द्वारा दिया है । शङ्काकार का अभिप्राय ऐसा है कि "स्यात् जीव एव" यह वाक्य जीव के जीवन गुण को लेकर प्रवर्तित हुआ है—अतः विकलादेश होने से नय का विषय है । प्रमाण का विषय नहीं । क्योंकि उसमें सकलदेश की विवक्षा मानी गई है । यहां जीव का जीवन गुण एक धर्म होने से सकलादेश नहीं हो सकता । अन्यथा नय वाक्य में और प्रमाण वाक्य में कोई भेद ही नहीं रहेगा । इस आशङ्का का समाधान

करने के लिये सूत्रकार कहते हैं कि तत्त्व दो प्रकारों से व्यवस्थित है-एक सवार्थवान् होने से द्रव्यरूप दूसरा व्यवहार वान् होने से पर्यायरूप। सत्, द्रव्य और विधि ये सवार्थ के असत्, अद्रव्य, गुण, पर्याय और प्रतिषेध ये व्यवहार के नामान्तर (पर्यायवाची) शब्द हैं। इन सवार्थ और व्यवहार रूप प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का अभाव होने से तत्त्व के और कोई दूसरे प्रकार नहीं हैं। इसलिये ये दो प्रकार ही उसके निज स्वरूप हैं। जिस समय सवार्थ प्रकार को लेकर जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश, काल, पुद्गल अथवा मनुष्य आदि सत् रूप हैं इस प्रकार की प्ररूपणा -कथन-की जाती है, उस समय काल, आत्मरूप, संसर्ग, गुणिदेश, अर्थ सम्बन्ध, उपकार और शब्द इन कालादिक आठों द्वारा अभेदरूप से उस अभेदात्मक वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। मतलब इसका यह है कि "जीवादिक द्रव्य सत रूप हैं" इस प्रकार का कथन द्रव्यार्थिक नय रूप सवार्थ प्रकार को लेकर किया जायगा। उस समय एक विवक्षित उस सत् धर्म के कथन के साथ २ अन्य अशेष धर्मों का इन कालादिक आठों के द्वारा अभेद की मुख्यता से प्रतिपादन हो जाता है। क्योंकि ये सब ही धर्म एक वस्तु के द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अभिन्न हैं -अभेदात्मक-निजस्वरूप हैं। इसलिये प्रमाणाधीन सकलादेश का प्रयोग होने की अपेक्षा से तत्त्व अशेष-अन्य धर्मात्मक रूप कहा जाता है। और इसलिये सत् यह शब्द कालादिकों के साथ अभेद होने से सकल सद्विशेषात्मक

एवं सत् से इतर असद्विशेषात्मक तत्त्व का प्रतिपादन करता है। इसी तरह "द्रव्य" यह शब्द भी समस्त द्रव्य विशेषात्मक सकल पर्याय विशेषात्मक एवं अद्रव्यरूप गुणाद्यात्मक द्रव्य तत्त्व को प्रकाशित करता है। जीव शब्द भी इसी तरह से स्वार्थ को प्रतिपादन करने वाला समझ लेना चाहिये। जीव शब्द जैसे सकल जीव विशेष स्वरूप अपने वाच्य जीव तत्त्व का कथन करता है, उसी तरह वह उसी समय कालादिकों के साथ अन्य उसके पर्यायरूप एवं जीवाजीव विशेषरूप धर्मों की अभेदवृत्ति की मुख्यता लेकर उन सबकी युगपत् प्ररूपणा करता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये शब्द भी अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादन करते हुए अपने २ समस्त विशेषों के प्रतिपादक इसी तरह से माने गये हैं। भावार्थ इसका यही है कि शब्द द्वारा जो भी धर्म द्रव्यार्थिक नय की प्ररूपणा को लेकर प्रतिपादित किया जायगा वह अपनी प्ररूपणा के साथ २ वस्तु के अन्दर रहनेवाले अन्य अनन्त धर्मों का भी कालादिक आठ के साथ अभेदवृत्ति की मुख्यता लेकर युगपत् प्ररूपक हो जाता है— इसलिये "स्यात् जीव एव" यह एक ही वाक्य जीव में जीवन गुण का प्रतिपादक होता हुआ अन्य अशेष धर्मों का भी युगपत् कालादिक आठ के द्वारा अभेद की मुख्यता को लेकर प्रतिपादक माना गया है। इसलिये यह वाक्य एक गुण द्वारा युगपत् सकल धर्मों का प्रतिपादक होने से प्रमाणाधीन कहा गया है। यहां द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता और पर्यायार्थिक नय की गौणता से

कथन विवक्षित होता है-उस समय वहां पर अमेदवृत्ति की मुख्यता मानी जाती है। क्योंकि उस समय द्रव्य के सिवाय अन्य पर्याय आदि पर दृष्टि नहीं जाती। व्यवहार को लेकर जिस समय कथन इष्ट होता है उस समय द्रव्यार्थिक नय की गौणता एवं पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होती है। इस स्थिति में कालादिक आठों के द्वारा धर्मों में अमेद वृत्ति नहीं बन सकती है। इसलिये उन धर्मों का इनके द्वारा परस्पर में युगपत् वहां पर अमेद का उपचार किया जाता है। क्योंकि अनेक गुणों का, धर्मों का एक काल में एक स्थान पर अवस्थान नहीं हो सकता है। यदि अनेक गुण एक समय में एक वस्तु में रहने लगें तो गुणों के आश्रित द्रव्य में भी उतने ही भेद मानने की आपत्ति आवेगी। दूसरे-गुणों का अपना निज स्वरूप परस्पर में भिन्न २ है इसलिये भी उनमें एकता नहीं बन सकती—अतः इन्हीं सब युक्तियों को ध्यान में रखकर समस्त गुणों की अमेदवृत्ति युगपत् एकत्र असंभव है। इसलिये काल आदि के भेद से अस्तित्व आदि समस्त धर्म जुदे २ हैं। इन अस्तित्वादि धर्मों के भिन्न २ होने पर भी इनमें अमेदभाव की कल्पना की जाती है। इसी का नाम अमेदोपचार है। इसी अमेदोपचार एवं अमेदवृत्ति से कि जो पर्यायार्थिक नय एवं द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से माने गये हैं, अनन्त धर्म वाले पदार्थों को एक साथ कहने वाले वाक्य को सकलादेश अथवा प्रमाण वाक्य कहा है।

सकलादेश में युगपत् कथन होता है। इसका अभिप्राय यह

है कि जिस समय वस्तु के अनेक धर्मों का काल आदि आठ द्वारा अभेद सिद्ध करना होता है उस समय यद्यपि वस्तु के एक धर्म का प्रयुक्त एक शब्द से ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्द से ज्ञान इस एक धर्म के द्वारा ही उस पदार्थ के अनेक धर्मों का ज्ञान होता है। इसे वस्तु का एक साथ ज्ञान होना कहते हैं। यह ज्ञान सकलादेश से होता है। विकलादेश में क्रम २ से ज्ञान होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय अस्तित्व आदि धर्मों का काल आदि से भेद सिद्ध करना इष्ट होता है, उस समय प्रयुक्त एक शब्द से अनेक धर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः वस्तुगत सम्पूर्ण धर्मों का एक २ करके कथन किया जाता है इसी का नाम क्रम है। यह क्रमिक ज्ञान ही विकलादेश है। कालादिक आठ में जो संसर्ग और सम्बन्ध, इस प्रकार से भिन्न२ रूप में कहने में आये हैं, उनका अभिप्राय यह है कि सम्बन्ध में अभेद की मुख्यता, एवं भेद की गौणता और संसर्ग में भेद की प्रधानता और अभेद की गौणता होती है।

असत् अद्रव्य और अजीव आदि ये जितने भी भवार्थ के प्रतिषेध स्वरूप शब्द हैं, ये सब व्यवहार नय की अपेक्षा से हैं। सत् का प्रतिषेध स्वरूप असत्, द्रव्य का प्रतिषेध स्वरूप अद्रव्य एवं जीव का प्रतिषेध स्वरूप अजीव है। सत् आदि में पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से ही असत् आदि रूपता आती है। व्यवहार नय के विषय भूत इन शब्दों में अभेद वृत्ति की गौणता एवं अभेदोपचार प्रधान माना गया है। "स्यात् अजीव एव" इस

वाक्य में व्यवहार नय की प्रधानता से नास्तित्वमुखेन, काला दिक आठ द्वारा अभेदोपचार होने से अनन्त धर्मों का युगपत् कथन किया जाता है। जब कि "स्यात् जीव एव" इस वाक्य में अस्तित्व मुख से अभेद वृत्ति की प्रधानता में युगपत् अनंत धर्मों का कथन किया जाता है। इसी प्रकार इतर भंगों में भी समझ लेना चाहिये। अन्यथा प्रमाण सप्त भंगी नहीं बन सकती है। जिस प्रकार प्रयुक्त असत्, अद्रव्य और अजीव आदि शब्द अपने समस्त असत् विशेषात्मक आदि तत्त्व का प्रख्यापन करते हैं। उसी प्रकार "वस्तुत्व" यह शब्द भी कि जो स्यात् और एवकार प्रयुक्त होकर कहा जाता है, सकल वस्तु के विशेष स्वरूप सत् और असत् आदि रूप तत्त्व अर्थ का, कालादिक के अभेद से एवं अभेद के उपचार से एक ही साथ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की मुख्यता लेकर कथन करता है। इसका निष्कर्षार्थ यह है कि द्रव्य, सत् आदि शब्द भवार्थ (द्रव्यार्थिकनय) की प्रधानता से और व्यवहार की अप्रधानता से अपने २ अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, असत् अद्रव्य आदि शब्द व्यवहार की प्रधानता से और द्रव्यार्थिक की अप्रधानता से अपने २ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। उस प्रकार से "वस्तुत्व" यह शब्द किसी एक नय की प्रधानता एवं किसी एक नय की अप्रधानता से अपने अर्थ का कथक नहीं होता है। यह तो दोनों नयों की युगपत् प्रधानता से अपने अर्थ का प्रतिपादक माना गया है। क्योंकि इसमें सत् और

असत् आदि रूप धर्म युगपत् प्रधान हुए हैं। इसी विषय को टीकाकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। जिस काल में वस्तु में वस्तुत्व धर्म रहता है उसी समय में और भी समस्त उसके अशेष धर्म उसमें रहते हैं। इसलिए एक ही काल में एक ही अधिकरण में उन धर्मों की विद्यमानता होने से काल की अपेक्षा धर्मों की अभेदवृत्ति मानी जाती है। जिस प्रकार वस्तु में वस्तुत्व आत्मरूप-गुण-रूप है उसी प्रकार अन्य अनन्त धर्म भी उसके गुण स्वरूप हैं। अतः इस आत्म रूप की अपेक्षा से उनकी अभेद वृत्ति मानी जाती है। जिस वस्तुत्व के साथ वस्तु का संसर्ग है उसी प्रकार वस्तु विशेषों के साथ भी उसका संसर्ग है। यह संसर्ग से अनन्त धर्मों की अभेदवृत्ति है। वस्तुत्व गुण का जिस प्रकार वह वस्तु रूप गुणिदेश है उसी प्रकार वह अन्य अनन्त धर्मों का भी गुणि देश है। यह गुणि देश की अपेक्षा उनकी अभेदवृत्ति है। मतलब इसका यह है–कि वस्तु में जिस अंश को लेकर वस्तुत्व गुण रहा हुआ है उसी अंश को लेकर उसमें अन्य अनन्त धर्म भी रहे हुए हैं। ऐसा नहीं है कि वस्तु में किसी अंश की अपेक्षा वस्तुत्व हो और किसी अंश की अपेक्षा अवस्तु आदि अन्य धर्म रहे हों। जो आत्मा आदि वस्तु जिस प्रकार वस्तुत्व गुण का अधिकरण है वही आत्मादिक वस्तु अन्य और भी अनन्त धर्मों का अधिकरण है। यह अर्थ की अपेक्षा अभेदवृत्ति है। जो तादात्म्य सम्बन्ध वस्तुत्व का वस्तु के साथ है वही तादात्म्य सम्बन्ध अन्य अनंत धर्मों का भी उसके

साथ है यह सम्बन्ध की अपेक्षा अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार अर्थ क्रिया सामर्थ्य लक्षण रूप उपकार वस्तुत्व गुण वस्तु का करता है उसी प्रकार वही उपकार उसका अन्य अनन्त धर्म भी करते हैं। यह उपकार की अपेक्षा अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार वस्तु यह शब्द वस्तुत्व का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार वही शब्द अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन करता है। यह शब्द की अपेक्षा अभेदवृत्ति है । इस प्रकार वस्तु शब्द द्वारा सकल धर्म विशिष्ट वस्तु का कथन होने से "स्यात् वस्त्वेव" इत्यादि शब्द अनेकान्तात्मक रूप तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। यह प्रतिपादन ही सकलादेश है।

न द्रव्य-पर्याय-पृथग्-व्यवस्था-
द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम् ।
धर्मश्च धर्मी च मिथस्त्रिधेमौ-
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥ ४८ ॥

अन्वय—द्रव्य-पर्याय-पृथक्व्यवस्था न । एकार्पणया द्वैयात्म्यं विरुद्धम्। ते इमौ धर्मश्च धर्मी च मिथः त्रिधा अभिमतौ । सर्वथा न अभिमतौ (यतः) विरुद्धौ।

अर्थ—पर्याय निरपेक्ष द्रव्य की और द्रव्य निरपेक्ष पर्याय तथा परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्याय दोनों की व्यवस्था नहीं बनती है। एक अर्पणा से द्वयात्मकता विरुद्ध पड़ती है। आपके शासन में ये धर्म और धर्मी दोनों परस्पर में किसी अपेक्षा से

ही तीन प्रकार माने गये हैं। सर्वथा रूप से नहीं, क्योंकि इस प्रकार से ये दोनों विरुद्ध पड़ते हैं।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक द्वारा यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि जिस प्रकार स्यात् और एवकार युक्त "वस्तु" शब्द युगपत् अशेष रूपात्मक तत्त्व की प्रतिपादना करता है क्योंकि यहां द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय इन दोनों की प्रधानता है—उसी प्रकार से "द्रव्यमात्रं तत्त्वं पर्यायमात्रं" ये शब्द अपने अर्थ की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं। कारण कि इस प्रकार से इनका वाच्यार्थ एकान्त रूप से द्रव्य और पर्याय मात्र ही होता है। एकान्त द्रव्य या पर्याय मात्र तत्त्व प्रमाण का विषय नहीं होता है। इसलिये यह वेदान्त सम्मत विधिवाद का कथन कि "द्रव्यमात्र ही तत्त्व है, उसका ही द्रव्य पद से कथन होता है, एवं अन्य दूसरे पद भी इसका ही समर्थन या कथन करते हैं, कारण कि इसके सिवाय और दूसरा पदार्थ है ही नहीं" सब प्रमाणशून्य ही ठहरता है। "सत्-विधि स्वरूप द्रव्य ही तत्त्व है" यह प्रमाण का विषय इसलिये नहीं है कि इसका व्यवस्थापक कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्रियजन्य अस्मदादि प्रत्यक्ष ज्ञान में तो यह शक्ति ही नहीं है जो त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों में व्यापक रहे हुए इस द्रव्य को विषय कर सके, कारण कि वह तो सिर्फ वर्तमान को ही विषय करने वाला माना गया है। त्रिकाल–विषयक सत् स्वरूप द्रव्य को विषय करना तो योगियों के प्रत्यक्ष के हाथ की बात है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि इससे हमें

कुछ मतलब नहीं—हम तो यही सिद्ध करना चाहते हैं कि त्रिकाल विवर्तव्यापी एक विधिस्वरूप द्रव्य ही तत्त्व है अन्य पर्याय आदि रूप नहीं, इसका ग्राहक योगि प्रत्यक्ष है। सो ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता में अस्मदादि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में निर्विषयता प्रसक्त होता है। "हमारा इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष उस सत् स्वरूप विधि—द्रव्य मात्र का ग्राहक नहीं होता है। एतावता उसमें निर्विषयता का अपादान करना उचित नहीं है। क्योंकि अस्मदादि प्रत्यक्ष में भी विधात्—विधिस्वरूप द्रव्य को विषय करना पना इस रूपसे साबित होता है कि यदि अस्मदादि प्रत्यक्ष सर्वथा निषेध-निषेधक—असत् को विषय करने वाला ही होता तो निषेध्य पदार्थों की अनंतता होने से अनंत काल में यह उनका निषेध नहीं कर सकता है। उनका निषेध करने २ में ही इसकी समस्त शक्ति क्षीण हो जायगी तो फिर इस तरह से इसकी किसी भी पदार्थ के अस्तित्व विधान में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती है। परन्तु होती तो है। अतः विधि को ही यह विषय करता है यही मानना उचित है। सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता से यदि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति केवल सद्द्रव्य में ही मान्य रखी जाय तो असत्त्व में उसकी प्रवृत्ति नहीं होने से सत्त्व से वह असत्त्व का व्यवच्छेदक नहीं हो सकता। इस अपेक्षा से सत्त्व और असत्व ये दो तत्त्व सिद्ध हो जायेंगे। केवल सत्स्वरूप द्रव्य तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि केवल सत्स्वरूप द्रव्य तत्त्व की सिद्धि करने

के लिए यह कहा जाय कि सन्मात्र–विधिस्वरूप में प्रवर्तमान प्रत्यक्ष सत्त्व से विरुद्ध असत्त्व का वहां व्यवच्छेदक होता है तो इस प्रकार के कथन से प्रत्यक्ष में निषेधकता भी तो सिद्ध हो जाती है। सन्मात्र तत्त्व को ही प्रत्यक्ष विषय करता है, इसी बात को साबित करने के लिए यदि ऐसा कहा जाय कि जब सर्व प्रथम इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होता है उस समय जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह निर्विकल्प–कल्पना रहित होता है। इस निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा ही सन्मात्र तत्त्व विषय होता है। पश्चात् अनादि काल से लगी हुई अविद्या वासना के बल से वह असत् को विषय करता है और इसी से असत् की निवृत्ति के विकल्प का उत्थान होता है। इस तरह प्रतिषेध व्यवहार प्रवर्तित होता है। सो इस प्रकार के कथन से तो यही साबित होता है कि परमार्थ रीति से असत्त्व की निवृत्ति नहीं होती–इसलिए यह बात प्रसक्त होती है कि प्रत्यक्ष सत् असत् स्वरूप वस्तु को विषय करता है।

यदि प्रत्यक्ष में सत्त्वमात्र विषयता प्रतिपादन करने के लिए ऐसा कहा जाय कि प्रत्यक्ष जो सन्मात्र की विधि करता है वह सन्मात्र की विधि ही असत्त्व का प्रतिषेध है तो इस प्रकार के कथन से प्रत्यक्ष सन्मात्र तत्त्व का ही विधायक होता है यह बात साबित नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार से उससे निषेध भी प्रतीत हो जाता है। दूसरे–प्रत्यक्ष जब असत्त्व का निषेध नहीं करता है तो उसका प्रतिषेध भी कैसे किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। अतः सत् असत् स्वरूप पदार्थ ही प्रत्यक्ष आदि

प्रमाण के विषयभूत हैं ऐसा मानना चाहिये। इसलिये स्वतंत्र सत् स्वरूप द्रव्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है। इस विषय पर टीकाकार ने खूब विस्तृत विवेचन कया है। अतः विशेष जिज्ञासुओं के लिए यह विषय टीका से जान लेना चाहिये।

इसी प्रकार पर्यायतत्त्व अथवा परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्यायतत्त्व की भी व्यवस्था नहीं हो सकती। ऐसी कोई सी भी पर्याय नहीं है जो द्रव्य से विकल हो और इस बात का ग्राहक कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण हो। जिस प्रकार एकान्त रूप से द्रव्यतत्त्व की व्यवस्था किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती उसी प्रकार पर्यायतत्त्व की भी स्वतंत्र रूप से किसी भी प्रमाण द्वारा व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती है। इस तरह स्थिति पर्याय रूप तत्त्व को ही एकान्त रूप से मानने वाले बौद्ध हैं। उनके प्रति इस अनुमान द्वारा वस्तु में नित्यता साबित की जाती है कि "समस्तं वस्तु नित्यमेवेदानीन्तनतया प्रतीयमानत्वात्" समस्त वस्तुएं इदानींतनता रूप से प्रतीयमान होने से कथंचित् नित्य ही हैं। कथंचित् नित्यता सिद्ध करने के लिये यह "इदानीन्तनतया प्रतिभासमानत्वं" हेतु है। नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों में इदानीन्तनता के प्रतिभास का अभाव होने से यदि इस हेतु को अव्यापक कहा जाय तो ठीक नहीं है। कारण कि नष्ट और अनुत्पन्न अवस्था द्वितय की अपेक्षा नहीं रखनेवाले द्रव्य का इदानीन्तनतया रूप से प्रतिभास हो ही नहीं सकता है। दूसरे

नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायें अपने २ समय में इदानीन्तनता रूप से प्रतिभासित हुई हैं और आगे होंगी। मूल द्रव्य के अभाव में इदानीन्तनता रूप पर्याय से द्रव्य का प्रतिभास हो ही नहीं सकता है। द्रव्य में यह इदानीन्तनता की प्रतीति आत्मा में अहंता की प्रतीति की तरह शश्वत अविच्छिन्न होती है। जिस प्रकार आत्मा "मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार सर्वदा अवच्छिन्न अहं प्रत्यय के विषयभाव को अनुभवता हुआ कभी भी अहंता का परित्याग नहीं करता है और इसीलिये यह नित्य माना जाता है उसी प्रकार अन्तर्बहि वस्तुएं भी निरन्तर इदानीन्तनता का परित्याग नहीं करती हैं। अतः ये भी नित्य हैं। प्रतिक्षण विनाशित्व में इस इदानीन्तनता की प्रतीति नहीं होती है। कारण कि उसका वहां विरोध है। यदि इदानीन्तनता की संतान में विच्छेदता प्रकट करने के लिये यों कहा जाय कि "पूर्वकालीन इदानीन्तनता से वर्तमानकालीन इदानीन्तनता भिन्न है अतः इसे अविच्छिन्न कैसे माना जा सकता है? प्रतिक्षण इनमें विच्छेद होता रहता है" तो ऐसा कहना ठीक नहीं। कारण कि ऐसा कोई भी प्रमाण संभवित नहीं है जो पूर्व और वर्तमान पर्यायों को इदानीन्तनता में विच्छेद का ग्राहक हो। इदानीन्तनता का साम्प्रतिक संवेदन पूर्व अपरकाल सम्बन्धी इदानीन्तनता के संवेदन के विच्छेद को ग्रहण करने के लिये शक्य नहीं है। क्योंकि उस समय पूर्व और अपरकालीन संवेदन का स्वयं अभाव है एवं पूर्व और अपरकालीन संवेदन

के समय में साम्प्रतिक इदानीन्तनता के संवेदन का अभाव है। अनुमान भी पूर्व और अपरकालीन सम्बन्धी इदानीन्तनता के संवेदन के विच्छेद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। कारण कि बिना अविनाभावी लिङ्ग के अनुमान का उत्थान होता नहीं है। प्रकृत में ऐसा कोई लिङ्ग नहीं है जो पूर्व और अपर कालीन संवेदन विच्छेद के साथ अविनाभावरूप सम्बन्ध से प्रतीत हो, तो कदाचित् क्वचित् पूर्वापर इदानीन्तना के विच्छेद को प्राप्त करता है वही उसके स्वभावभूत अथवा कार्यभूत लिङ्ग का उसके साथ सम्पूर्णरूप से अविनाभाव सम्बन्ध तर्कित कर सकता है। दूसरा कोई नहीं। जो स्वयं पूर्व और अपरकाल में अव्यापक-नहीं रहने वाला है वह कैसे पूर्व और अपरकालीन इदानीन्तनता के दोनों संवेदनों में विच्छेद उपलब्ध करने के लिये समर्थ हो सकता है। यदि पूर्वापरकालीन इदानीन्तनता के संवेदनों में विच्छेद ग्रहण करने वाला संतान स्वीकार किया जाय अर्थात् इन दोनों के विच्छेदग्रहण करने में समर्थ संतान है ऐसा माना जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि बौद्ध सिद्धान्तानुसार स्वयं संतान कोई वस्तु ही सिद्ध साबित नहीं होती है। अतः अवस्तुरूप उस संतान में इन दोनों के विच्छेद ग्रहण करने की कोई शक्ति ही नहीं बन सकती है। यदि च संतान को वस्तुभूत पदार्थ स्वीकार किया जाय तो इससे यही बात सिद्ध होती है कि बौद्धों ने जिसे "संतान" इस नाम से निर्दिष्ट किया है-जैनियों ने उसे ही आत्मा इस नाम से कहा

है। संतान और आत्मा इन दोनों में नाम का ही अन्तर है अर्थ का नहीं। इस प्रकार नित्य आत्म द्रव्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार पर्यायातिरिक्त द्रव्य तत्त्व है यह बात यहां तक संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित की है। टीकाकार ने इस विषय में और भी विस्तृत विवेचन किया है। अतः विशेषरूप से जानने के लिये विषय वहां पर देखना चाहिये।

परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्यायों की भी स्वतन्त्र व्यवस्था नहीं हो सकती है। कारण कि इस विषय में भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो इन दोनों की परस्पर निरपेक्ष रूप से स्वतंत्र व्यवस्था कर सके। यदि "द्रव्यपर्यायौ मिथोभिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटादिवत्" यह कहा जाय कि घट और पट की तरह भिन्न २ रूप से प्रतिभास होने की वजह से द्रव्य और पर्याय परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, सो ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। कारण कि भिन्नता साधक यह हेतु असिद्ध है। प्रत्यक्ष इस बात का समर्थक नहीं है कि द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न हैं। इससे तो वे दोनों परस्पर में अविष्वग् भाव रूप सम्बन्ध से युक्त हैं ऐसा ही प्रतीत होता है। रही अनुमान की बात—सो क्या इसी अनुमान से द्रव्य और पर्याय परस्पर में भिन्न २ रूप में प्रतिभासित होते हैं यह बात साधी जाती है या किसी दूसरे अनुमान से? प्रकृत अनुमान से द्रव्य और पर्यायों का भिन्न प्रतिभासित्व सिद्ध करने में परस्पराश्रय नाम का दूषण आता है। कारण कि द्रव्य और पर्यायों का भिन्न प्रतिभासित्व जब सिद्ध हो जायगा तब

इस अनुमान का उत्थान हो सकेगा। और जब इस अनुमान का उत्थान होगा-तब उनमें भिन्न प्रतिभासित्व साबित हो सकेगा। यदि इससे अतिरिक्त दूसरे कोई और अनुमान से द्रव्य और पर्यायों का भिन्न प्रतिभासित्व साध्य किया जाय तो कहिये वह अनुमान और कौनसा है-यदि "द्रव्यपर्यायौ भिन्नप्रतिभासौ विरुद्ध-धर्माधिकरणत्वात् यौ यौ विरुद्धधर्माधिकरणौ तौ तौ सर्वथा भिन्नप्रतिभासौ यथा जलानिलौ" यह कहकर कि जो जो विरुद्ध धर्म के अधिकरण होते हैं वे २ सर्वथा भिन्न प्रतिभासवाले होते हैं जैसे जल और अनिल। द्रव्य और पर्याय भी विरुद्ध धर्म के अधिकरण हैं इससे भिन्न २ प्रतिभास के विषय हैं। द्रव्य और पर्यायों में भिन्न प्रतिभासित्व साध्य किया जाय तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इस अनुमानान्तर का पक्ष प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हेतु भी प्रत्यक्ष से बाधित पक्ष में रहने वाला होने से कालात्ययापदिष्ट हैं। इससे भिन्नप्रतिभासित्व रूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। अवयव अवयवी, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, सामान्य सामान्यवान् एवं विशेष और विशेषवान् इन सब का परस्पर में कथंचित् अविष्वग्भाव सम्बन्ध है और ऐसा ही प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत होता है।

इसी तरह सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व की भी व्यवस्था नहीं बन सकती है। एक तत्त्व में जो द्वयात्मकता मानी जावेगी-सो क्या वह सर्वथारूप से मानी जावेगी या कथंचित् रूप से। सर्वथा रूप से एक में द्वयात्मकता विरुद्ध पडती है-क्योंकि जो आत्म

द्रव्य की प्रतीति का हेतु होगा वह, और जो पर्याय की प्रतीति में निमित्त होगा वह परस्पर में भिन्न २ स्वभाव वाला होगा। इन भिन्न २ स्वभावों से अभिन्न में तो भिन्नता ही सिद्ध हुई मानी जावेगी। इन दोनों स्वभावों को अभिन्न मानकर द्वयात्मकता साबित की जावेगी तो इस प्रकार से द्वयात्मकता न आकर एकात्मता ही सिद्ध होगी। इसलिये एक में द्वयात्मकता एक ही अर्पणा-विवक्षा-से सर्वथा विरुद्ध है यही मानना चाहिये। कथंचित् अर्पणा से तो एक में द्वयात्मकता स्याद्वादसिद्धान्त को मान्य ही है। अतः धर्मी-धर्म ये दोनों तत्त्व द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से कथंचित् अभिन्न हैं। पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से कथंचित् भिन्न हैं, एवं क्रमार्पित द्वय की अपेक्षा से कथंचित् परस्पर में भिन्नाभिन्न भी हैं। अतः यह साबित हो चुका कि स्यात्पद से युक्त वाक्य सर्वथा धर्ममात्र, धर्मीमात्र और परस्पर निरपेक्ष धर्मी और धर्ममात्र का प्रतिपादक नहीं होता और न इन्हें सर्वथा भिन्न, सर्वथा अभिन्न और न सर्वथा भिन्नाभिन्नरूप में प्रतिपादन ही करता है। क्योंकि ये सब प्रतीति के विरुद्ध हैं। और इसीलिये द्रव्यैकान्त, पर्यायैकान्त एवं परस्पर निरपेक्ष पृथग्भूत द्रव्य पर्यायैकान्त की व्यवस्था नहीं बन सकने का समर्थन होता है। अतः द्रव्यादिकों की सर्वथा एकान्त की मान्यता में कोई युक्ति का अनुशासन नहीं घटित होता है यह ठीक ही है।

युक्त्यनुशासन क्या है—इसे स्पष्ट किया जाता है—

दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-
तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ ४८ ॥

अन्वय—दृष्टागमाभ्यां अविरुद्धं अर्थप्ररूपणं ते युक्त्यनुशासनं। इह (यथा) अर्थरूपं प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्व-व्यवस्थं (यतस्तत्) सत्।

अर्थ—प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का जो प्ररूपण है वही हे नाथ! आपका युक्त्यनुशासन है। इसमें एक दृष्टान्त दिया जाता है—अर्थ का रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय और व्ययरूप तत्त्व व्यवस्था वाला है क्योंकि वह सत् है।

भावार्थ—"युक्त्यनुशासन" क्या है इस आशङ्का का उत्तर देने के लिये सूत्रकार ने इस कारिका का सृजन किया है। वे इसमें इसी के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं, कि प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित स्वरूप अर्थ का जो अर्थ रूप से प्ररूपण है वही युक्त्यनुशासन है। यद्यपि श्लोक में "अर्थ-प्ररूपणं" ऐसा ही पद है और इसका अर्थ, अर्थ का प्रतिपादन करना ऐसा होता है। इस अर्थ प्रतिपादन को यदि युक्त्यनु-शासन माना जाय तो प्रत्यक्ष में भी युक्त्यनुशासनता प्रसक्त होगी—अतः इस अतिव्याप्ति दोष को हटाने के लिये "अर्थ" इस पद का इस लक्षण वाक्य में निवेश कर लेना चाहिये। तथा

च अर्थात्—अन्यथानुपपन्नत्व नियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्—साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति रूप नियम से निश्चित साधन से साध्य रूप अर्थ का प्रतिपादन करना ही युक्त्यनुशासन है ऐसा फलितार्थ होता है। युक्त्यनुशासन के इस लक्षण में "दृष्टागमा-भ्यामविरुद्ध" इस प्रकार जो पद रक्खा गया है—उसकी सार्थकता इस प्रकार है—कि प्रत्यक्षविरुद्ध—जल की तरह द्रव्य होने से अग्नि ठंडी है—तथा आगम विरुद्ध—अधर्म की तरह कर्म होने से धर्म जीव को परलोक में दुःख देने वाला है—अर्थ की प्ररूपणा युक्त्यनुशासन न हो जाय। प्रत्यक्ष विरुद्ध और आगमविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करना युक्त्यनुशासन नहीं है। युक्त्यनु-शासन को स्पष्ट करने के लिये यहां ग्रन्थकार एक उदाहरण उप-स्थित करते हैं। वे कहते हैं कि अर्थ का रूप प्रतिक्षण स्थिति-ध्रौव्य, उदय-उत्पाद और व्यय-नाशरूप तत्त्वव्यवस्था को लिये हुए है क्योंकि वह सत् स्वरूप है। इस युक्त्यनुशासन में जो पक्ष है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध इसलिये नहीं है कि अर्थ का ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाहिरी घट पटादिक पदार्थों में साक्षात् अनुभवित होता है, उसी प्रकार आत्मादिक आभ्यन्तर पदार्थों में भी यही स्वरूप साक्षात् अनुभव में आता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्र की तरह केवल स्थिति मात्र का प्रत्यक्ष से कहीं भी अनुभव नहीं होता है। अर्थ का स्वरूप प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, यह अनुभव असुघटन नहीं है। कारण कि बाधक प्रमाणों की असंभवता इसमें सुनि-

सिद्ध है। ऐसा कोई भी बाधक प्रमाण संभवित नहीं है जो "वस्तु–मात्र का रूप–उत्पादादि–त्रयात्मक नहीं है" इसका समर्थक हो। कारण कि यदि वस्तु में प्रतिक्षण उत्पादादित्रयात्मकता न होती तो कालान्तर में जो यहां इनका साक्षात् दर्शन होता है वह नहीं होना चाहिये। अतः उत्पादादित्रयात्मक वस्तु है इसमें प्रत्यक्ष–विरोध नहीं आता है। आगम विरोध भी इस युक्त्यनुशासन में घटित नहीं होता है। क्योंकि "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्" इस प्रकार का परमागम प्रसिद्ध है। इससे प्रतिक्षण उत्पादादित्रयात्मक पदार्थ हैं यही सिद्ध होता है। हां ऐसा कोई आगम नहीं है जो एकान्त रूप से वस्तु में एक ही धर्म का परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रतिपादन करनेवाला हो। यदि ऐसा आगम हो भी तो वह दृष्ट–प्रत्यक्ष और इष्ट–अनुमान से विरुद्ध अर्थ का अभिधायी होने से प्रतारक–ठगिया पुरुष–के वचन की तरह प्रसिद्ध–प्रमाण कोटि में नहीं ग्रहण किया जा सकता है। अतः प्रसिद्ध जीवादि–धर्मीरूप साध्य धर्मी का अप्रसिद्ध प्रतिक्षण उत्पादादित्रयात्मक साध्यधर्म का यहां कथन होने से पक्ष निरवद्य है। इसी प्रकार "सत्त्वात्" यह हेतु भी निर्दोष है। कारण कि इसमें हेतु के जितने भी दोष हैं उनमें से किसी भी एक का सद्भाव नहीं पाया जाता है। तथाहि–असिद्ध दोष इसलिये यहां पर नहीं है कि यदि सत्त्व धर्म के रूप में सत्त्व का अभाव माना जायगा तो सर्वाभाव का प्रसंग आयगा। संदिग्धासिद्ध भी हेतु इसलिये नहीं है कि यदि सत्त्व रूप का संदेह माना जाय

तो संदेह भी सत्त्व के नित्यत्व के विरुद्ध जानना पड़ेगा। अज्ञातासिद्ध भी यह हेतु इसलिये नहीं है कि समस्त वादियों को सत्त्व के परिज्ञान के अभाव में वादी होने का विरोध आता है। जो हेतु पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी रहता है वही अनैकान्तिक हेतु माना जाता है। सत्त्व हेतु सम्पूर्ण रूप से या एकदेश रूप से विपक्ष में रहता नहीं है। इसलिये अनैकान्तिक नहीं है। उत्पादादित्रयात्मकता का विपक्ष उत्पादादित्रयात्मकत्व का अभाव है। इस विपक्ष को यदि इस प्रकार कहकर साबित किया जाय कि "द्रव्य" इसमें केवल ध्रौव्यात्मकता ही है, उत्पाद और व्ययात्मकता नहीं है। पर्याय में केवल उत्पाद और व्ययात्मकता ही है ध्रौव्यात्मकता नहीं है। अतः द्रव्य में उत्पाद और व्ययात्मकता के अभाव में भी "सत्त्व" यह हेतु रहता है–इसी प्रकार ध्रौव्यके अभावविशिष्ट उत्पाद व्ययात्मक पर्याय में भी सत्त्व का सद्भाव माना जाता है। इसलिये विपक्ष में भी इस हेतु का सद्भाव होने से इसे अनैकान्तिक मानना ही पड़ेगा। सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार जिस सत्त्व हेतु में दोष प्रदर्शित किया गया है वह नय का विषय माना गया है। वह यहां हेतु नहीं है। वस्तुत्वस्वरूप जो सत्त्व है (जिसे प्रमाण का विषय पीछे कहा गया है) वही यहां हेतु रूप से कथित हुआ है। द्रव्य में जो सत्त्व होगा वह द्रव्यार्थिक नय का एवं पर्याय का सत्त्व पर्यायार्थिक नय का विषय होगा। वस्तुत्व स्वरूप सत्त्व में द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नयों की युगपत्प्रधा-

नता मानी गई है। वस्तु न तो सिर्फ द्रव्यमात्र ही है और न पर्यायमात्र ही है, किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। हां! द्रव्य और पर्यायें वस्तुस्वरूप न होकर वस्तु के एकदेश हैं। यहां पर यह शङ्का नहीं करना चाहिये—कि जब द्रव्य और पर्याय स्वयं वस्तु-स्वरूप नहीं हैं तो उनमें वस्तुत्व के अभाव से अवस्तुत्व का प्रसंग होगा। कारण कि जिस प्रकार समुद्र का एक देश न पूर्ण रूप से समुद्र होता है और न असमुद्र ही; इसी प्रकार द्रव्य और पर्यायें न वस्तु रूप हैं और न अवस्तुरूप ही हैं। वे उसके एक देश हैं। यदि इस प्रकार कहकर हेतु को अनैकान्तिक प्रदर्शित किया जाय कि जब वस्तुत्व स्वरूप सत्त्व हेतु है तो वह एक देश-स्वरूप द्रव्य के सत्त्व से एवं पर्याय के सत्त्व से व्यभिचारी होगी ही है। क्योंकि यह वस्तुत्व स्वरूप सत्त्व अपने एक देश में जो रहता है। सो ऐसा कहना युक्त नहीं है। कारण कि यदि इस प्रकार एक देश द्वारा व्यभिचारोद्भव हेतु में किया जायगा तो फिर इस प्रकार से समस्त हेतु ही व्यभिचारी मानने पड़ेंगे। वह्नयादि साध्य की सिद्धि करने के लिये प्रयुक्त ऐसे सकलजन प्रसिद्ध धूम आदि साधन में भी उसके एक देश पांडुत्वादि द्वारा व्यभिचार का उद्भावन किया जा सकता है। यदि धूम हेतु को अव्यभिचारी सिद्ध करने के लिये यह कहा जाय कि धूम को हेतु बनाया है—तदेकदेश को नहीं—अतः उससे उसमें व्यभिचार नहीं आ सकता—तो यही समाधान वस्तुत्वस्वरूप सत्त्व हेतु के विषय में भी जानना चाहिये। इस प्रकार वस्तुत्व स्वरूप सत्त्व

को हेतु मानने पर उसमें उसके एक देश स्वरूप द्रव्य तथा अथवा पर्याय सत्त्व से अनैकान्तिकता का उद्भावन नहीं हो सकता है। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। विरुद्ध तो तब होता कि जब इस हेतु की केवल साध्य से विपरीत अर्थ के ही साथ व्याप्ति होती। उत्पादादित्रयात्मकता सत्त्वरूप हेतु का साध्य है। इससे विपरीत उत्पादादित्रयात्म का अभाव—केवल उत्पाद, केवल व्यय और केवल ध्रौव्य—है। उसमें यह हेतु नहीं रहता है। कारण कि जहां केवल स्थिति है वहां जिस प्रकार सत्त्व हेतु का सद्भाव नहीं बनता है, उसी प्रकार केवल उदय और व्यय में भी इस हेतु के सद्भाव का संभव नहीं हो सकता है। अर्थक्रियाकारित्व के सद्भाव में ही सत्त्व रहता है। जहां अर्थक्रियाकारित्व नहीं है वहां सत्त्व भी नहीं है—जैसे खपुष्प। इसलिये यह सत्त्व अर्थक्रियाकारित्व से व्याप्त माना गया है। अर्थक्रिया कारिता क्रम यौगपद्य से व्याप्त है। जहां क्रम और यौगपद्य नहीं है वहां अर्थक्रियाकारिता भी नहीं है। क्रम और यौगपद्य भी प्रतिपक्ष स्थित्युदयव्ययात्मक स्वरूप से हैं। जहाँ स्थित्येकान्त है वहां सत्त्व नहीं है। इसी प्रकार जहां उदय और व्यय भी एकान्त रूप से हैं वहां पर भी सत्त्व का अभाव माना गया है। इस तरह समुद्र के बीच में जाने वाले जहाज के मस्तूल से उड़ा हुआ पक्षी जिस प्रकार तीर के नहीं मिलने से उसी जहाज के मस्तूल पर आकर बैठ जाता है उसी प्रकार यह

सत्त्व रूप हेतु भी प्रतिक्षण स्थिति-उदय-व्ययात्मक अर्थ रूप में ही अन्त में स्थिति प्राप्त करता है अन्यत्र नहीं। इसलिये यह सत्त्व हेतु साध्य से विपरीत अर्थ का साधक नहीं होने से विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित नहीं होता है। यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि सपक्ष में सत्त्व का अभाव होने से यह हेतु असाधारण अनैकान्तिक है, सो इस पर यह पूछा जा सकता है-कि असाधारण अनैकान्तिक किसे कहते हैं? यदि इसके समाधान में यह कहा जाय कि सपक्ष और विपक्ष में जिसका सद्भाव नहीं है ऐसा हेतु असाधारण अनैकान्तिक होता है तो इस पर फिर भी यह प्रश्न होता है कि सपक्ष और विपक्ष में हेतु का असद्भाव निश्चित है अथवा संदिग्ध है। विपक्ष में जिस हेतु का सद्भाव सर्वथा निश्चित होता है वह अनैकान्तिक न होकर प्रत्युत सम्यक् हेतु माना जाता है। विपक्षासत्त्वरूप नियम के निश्चय लक्षण वाला ही तो सच्चा-निर्दोष हेतु होता है। यह लक्षण जिस हेतु में न हो वह यदि सपक्ष में रहता भी हो तो भी उसमें अपने साध्य की गमकता नहीं आती है। दूसरे बात यह भी है कि हेतु का लक्षण सपक्ष में सत्त्व होना नहीं है, क्योंकि यह लक्षण अव्यवस्थित है। यही कारण है कि इस सपक्षे सत्त्व के अभाव में भी हेतु में स्वसाध्य के प्रति गमकता की सिद्धि मानी गई है। सपक्ष विपक्ष में संदिग्ध असद्भाव वाला हेतु अनैकान्तिक होता है। यदि यह द्वितीय पक्ष कबूल किया जाय तो इस मान्यता में "सत्त्वात्" यह हेतु असाधारण

अनैकान्तिक नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाण के बल से विपक्ष में हेतु के असद्भाव का निश्चय किया जा चुका है—इससे किसी भी प्रकार का संशय न रहने से हेतु में अनैकान्तिकता का विरोध है। अनैकान्तिक का सामान्य लक्षण संशय का हेतु होना है। इसका भाव यही है कि संशय का हेतु वही होता है जिसकी अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति निश्चित नहीं होती है। परन्तु प्रकृत सत्त्व रूप हेतु में पूर्वोक्त प्रकार से अपने साध्य के साथ अविनाभाव रूप व्याप्ति का निश्चय किया ही जा चुका है। इसलिये यह हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों से रहित होकर युक्त्यनुशासन के इस "प्रतिक्षण अर्थ का रूप स्थित्युदयव्ययात्मक है" उदाहरण को समीचीन सिद्ध करता है। "अर्थ का रूप स्थित्युदयव्ययात्मक हो ही नहीं सकता; कारण कि जिस रूप से उसकी स्थिति है वह उसी रूप से उसमें होगी, व्यय जिस रूप से है, वह उसी रूप से होगा एवं उत्पाद भी अपने रूप से ही होगा—ऐसी व्यवस्था में अनेकान्तात्मक वस्तु सिद्ध नहीं होती है। इस मान्यता में तो स्थिति आदि एकान्त की ही प्रसिद्धि होती है" सो ऐसा किसी एकान्तवादी का कथन युक्तियुक्त नहीं है यही बात "[illegible]" इस पद से सूत्रकार ने प्रदर्शित की है। वे इसके द्वारा इस पूर्वोक्त स्थित्यादि—एकान्त का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि अर्थ का यह रूप किसी प्रकार ऐसी व्यवस्था से प्रसिद्ध नहीं है कि जिससे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

उसमें अपने २ खास रूप से ही हो। जिस रूप से उसमें ध्रौव्य है, उस रूप से वहीं पर उत्पाद और विनाश भी हैं। जिस रूप से उसमें ध्रौव्य था उस रूप से वहीं पर उत्पाद और विनाश भी था। इसी प्रकार जिस रूप से उसमें ध्रौव्य होगा उस रूप से वहीं पर उत्पाद और व्यय भी होगा। इस तरह ध्रौव्य में त्रिकाल की अपेक्षा से यह उत्पाद और व्यय की व्यवस्था समझनी चाहिये। इसी तरह उत्पाद और व्यय के साथ भी त्रिकाल की अपेक्षा ध्रौव्य और व्यय की व्यवस्था तथा व्यय के साथ ध्रौव्य और उत्पाद की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। मतलब इसका यह है कि अर्थ का रूप स्वकाल की अपेक्षा से ध्रौव्य रूप है, उत्पाद रूप है और विनाश रूप है। स्वोत्तरकाल की अपेक्षा से अर्थ का रूप ध्रौव्य रूप होगा, उत्पाद रूप होगा और विनाश रूप होगा। स्वपूर्वकाल की अपेक्षा से अर्थ का रूप ध्रौव्य रूप था, उत्पाद रूप था और विनाश रूप था। इस विषय को पट के दृष्टान्त से इसी प्रकार खुलासा किया गया है—प्रारंभ क्षण की अपेक्षा पट उत्पन्न होता है, स्थित होता है और नष्ट होता है। अनारंभ द्वितीयादिक्षण की अपेक्षा उत्पन्न होगा, स्थित होगा और नष्ट होगा। निवृत्त स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न था, स्थित था और नष्ट था। इस प्रकार उत्पादादित्रय किसी एक खास रूप से प्रतिबद्ध सिद्ध नहीं होते हैं। इसीलिये इन्हें व्यवस्था से रहित ग्रन्थकार ने प्रकट किया है और इसी कारण कथंचित् अव्यवस्थित तत्त्व अर्थक्रिया करने में समर्थ

सिद्ध होता है। इस तरह एक ही वस्तु नाना स्वभाव वाली है यह बात प्राप्त होती है—परन्तु यह तो विरुद्ध है। इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है। इस बात को सूत्रकार इस नीचे की कारिका से स्पष्ट करते हैं—

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गि-भावात्तव वस्तु तद्यत्-
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥५०॥

अन्वय—तव (सत्त्वैकत्वप्रत्यभिज्ञानात्) यत् वस्तु एकं (सिद्धं) तत् नानात्मतां अप्रजहत् (एव) (वस्तुत्वं लभते)। (तथा यत् अबाधितनाना प्रत्ययबलात्) नाना (प्रसिद्धम्) तत् एकात्मतां अप्रजहदेव (वस्तु सम्मतं)। अनन्त रूपं (वस्तु) अङ्गाङ्गिभावात् क्रमेण वाग्वाच्यं (भवति)।

अर्थ—हे नाथ! आपके इस अनेकान्त शासन में जो वस्तु सत्स्वरूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान से एक सिद्ध होती है, वह नानात्मता का त्याग नहीं करती हुई ही वस्तुत्व को प्राप्त होती है। तथा जो वस्तु अबाधित नाना प्रत्यय के बल से नाना रूप प्रसिद्ध है, वह एकात्मता का त्याग नहीं करती हुई ही वस्तुत्व को प्राप्त करती है। इस प्रकार अनन्त रूप वाली वस्तु अङ्ग अङ्गीभाव के कारण क्रम से वचन गोचर होती है।

भावार्थ—यद्यपि जीवादिक वस्तुएं सत्त्वरूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान के बल से एक-नित्य-रूप प्रसिद्ध होती हैं-और इसीसे उनमें वास्तविक वस्तुता आती है; परन्तु फिर भी यह एकता उनमें सर्वथा अपने प्रतिपक्षी के त्याग से नहीं आई है। क्योंकि अनेकात्मता के परित्याग में यह एकता उनमें आ ही नहीं सकती है। और न उनमें वस्तुता ही सिद्ध हो सकती है। जैसे नाना रूपता का परित्याग करने से ब्रह्माद्वैत में वस्तुता नहीं आती है। यह व्याप्ति है-जो नाना रूपता का परित्याग करती है वह वस्तु ही नहीं है। वस्तु एक होकर भी समीचीन नाना प्रत्ययों का विषय होने से अनेक रूप मानी जाती है। इसी तरह जो वस्तु अबाधित नाना ज्ञानका विषय होने से नानात्मक मानी गई है वह एकात्मता को नहीं छोड़ती हुई ही आपके सिद्धान्त में वस्तुरूप से सम्मत हुई है। अन्यथा उसमें वस्तुत्व का विरोध आता है। जैसे बोद्धों द्वारा स्वीकृत निरन्वय नानाक्षण रूप वस्तु में वस्तुता का विरोध होता है। इसलिये वस्तुत्व की अन्यथानुपपत्ति होने से जीवादिक पदार्थ परस्पर एक दूसरे का त्याग न करने से एक अनेक स्वभाव रूप है। यह युक्त्यनुशासन है। इस प्रकार की कथंचित् एकानेक स्वभाव रूपवस्तु वचन के द्वारा कैसे कही जा सकती है-इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह क्रम २ से वचन के गोचर होती है। इसका कारण यह है कि एक स्वरूप अथवा नाना स्वरूप वाली वस्तु एक रूप से अथवा अनेकरूप से युगपत् वचन

के द्वारा स्वरूप हो नहीं सकती है। क्योंकि इस प्रकार के कथन का अभाव है। ऐसा कोई भी वचन नहीं है—जो इस क्रम से वस्तु के कथन कर सकने में शक्तिशाली हो। इस प्रकार क्रम क्रम से वस्तु का विवेचन करने वाले वचन में असत्यता का प्रसंग नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी अपने विषय एकत्व अथवा अनेकत्व में अङ्गांगिभाव से प्रवृत्ति होती है। जैसे—"स्यादेकमेव" इस वचन के द्वारा प्रधानभाव से एकत्व वाच्य होता है और गौण रूप से नानात्व। इसी तरह "स्यान्नानैव" इस वचन प्रधान भाव से नानात्व—नाना रूपता—वाच्य होता है और गौणरूप से एकत्व। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व का क्रमिक कथन करने वाला वचन असत्य कैसे हो सकता है? हां! असत्यता सर्वथा पदार्थ में एकत्व का कथन करने वाले वचन में ही आती है—क्योंकि उससे नानात्व स्वभाव का निराकरण हो जाता है। जहां नानात्व का निराकरण हुआ कि वहां तदविनाभावी एकत्व के भी निराकरण का प्रसंग प्राप्त होता है। इससे असत्यत्व की प्राप्ति अभीष्ट ठहरती है। क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं होती है। इसी तरह सर्वथा नानात्व के कथक वचन से एकत्व का निराकरण होने से तदविनाभावी नानात्व के भी निराकरण होने की प्रसक्ति आती है—इससे नानत्व के सर्वथा एकान्त कथन में भी सत्यत्व का विरोध आ जाता है। इसलिये अनन्त स्वरूप वाली वस्तु आपके सिद्धान्त में जो क्रम २ से वचन द्वारा प्रतिपादित बतलाई गई है—वह अङ्ग और अङ्गीभाव

से ही जानना चाहिये। गौण का नाम अङ्ग, एवं प्रधान का नाम अङ्गी है। निष्कर्ष इसका यही है कि मुख्य और गौण की विवक्षा से ही अनन्तस्वरूपात्मक वस्तु का कथन वचन द्वारा क्रम २ से होता है। वचन द्वारा यह क्रमिक एकानेकात्मक वस्तु का कथन यथार्थ ही समझना चाहिये।

अनन्त धर्मों से विशिष्ट वस्तु रहो; परन्तु वे धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं और धर्मी भी उनसे पृथग्भूत है। इस प्रकार की मान्यता को निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥५१॥

अन्वय—मिथोऽनपेक्षाः अंशाः पुरुषार्थहेतुः न, तेभ्यः पृथक् अंशी नास्ति। परस्परेक्षाः पुरुषार्थ-हेतुः दृष्टाः। तद्वत् नयाः असिक्रियायां दृष्टाः।

अर्थ—परस्पर निरपेक्ष धर्म पुरुषार्थ के हेतु नहीं होते हैं। क्योंकि वे उस रूपमें उपलभ्यमान नहीं होते हैं। अंशों—धर्मों—अवयवों—से भिन्न अंशी—अवयवी नहीं है। परस्पर सापेक्ष धर्म और धर्मी पुरुषार्थ के हेतु देखे गये हैं। इसी तरह नय—नैगमादिक नय असिक्रिया सत्तालक्षणरूप क्रिया में परस्पर सापेक्ष होकर ही पुरुषार्थ के हेतु देखे गये हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा ग्रन्थकार इस आशंका का उत्तर दे रहे हैं जो इस सूत्र के अवतरण के रूप में उपस्थित की गई है। वे इसमें यह स्पष्ट कर रहे हैं कि अवयव अपने अवयवी से न तो सर्वथा जुदे हैं और न वे परस्पर में निरपेक्ष ही हैं। क्योंकि जो वस्तु के अवयव–धर्म–अंश परस्पर निरपेक्ष होते हैं वे पुरुषार्थ के हेतु नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वे उस रूप से उपलब्ध नहीं होते हैं। जो जिस रूप से अनुपलब्ध होता है वह उस रूप से व्यवस्थित नहीं होता है। जैसे अग्नि शीत रूप से उपलभ्यमान नहीं है तो वह शीत रूप से व्यवस्थित भी नहीं है। परस्पर निरपेक्ष सत्वादिक धर्म अथवा अवयव पुरुषार्थ के हेतु रूप से कहीं पर उपलभ्यमान नहीं होते हैं। इसलिये वे पुरुषार्थ के प्रति हेतु रूप से व्यवस्थित नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार यह युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध है। अंश परस्पर सापेक्ष होकर भी पुरुषार्थ के प्रति हेतु रूप से व्यवस्थित होते हैं। क्योंकि इसी प्रकार से देखने में आते हैं। जो जिस रूप से देखा जाता है वह उसी रूप से व्यवस्थित होता है। जैसे अग्नि दहन रूप से देखने में आती है अतः वह उसी स्वभाव से व्यवस्थित होती है। परस्पर सापेक्ष अंश स्वभावतः पुरुषार्थ के प्रति हेतु रूप से देखे जाते हैं, इसलिये वे उसी रूप से व्यवस्थित हैं। यह स्वभाव की उपलब्धि रूप हेतु है।

इसी तरह (अपने) अंशों से अंशी भी पृथक् नहीं है, क्यों-

कि इस रूप से उसकी उपलब्धि नहीं होती है। जो जिस रूप से अनुपलभ्यमान होता है वह उस रूप से उपलब्ध नहीं होता है। जैसे शीत रूप से तेज-(अग्नि) अनुपलभ्यमान है इसलिये वह शीत रूप से उपलब्ध नहीं होता है। अंशों से पृथक् अंशी है, यह बात सर्वदा अनुपलब्ध है इसलिये वह अंशों से पृथक् नहीं है, यह स्वभाव की अनुपलब्धि रूप हेतु है। न चात्र दृष्टविरोध-इसमें प्रत्यक्ष से कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि जो परस्पर में विभिन्न पदार्थ होते हैं उनमें आपस में सह्य और विन्ध्य आदि की तरह अंशांशिभाव नहीं देखा जाता है। इस कथन में आगम से भी कोई विरोध नहीं आता है। कारण कि अंश और अंशी परस्पर में सर्वथा विभिन्न हैं, इस विषय को प्रतिपादन करने वाले आगम का अभाव है। ऐसे आगम का अभाव इसलिये कहा गया है कि इस विषय को प्रतिपादन करने वाला आगम युक्ति से विरुद्ध पड़ जाता है। युक्ति-विरुद्ध आगम आगमाभास झूठा आगम है। यदि यहां पर ऐसा कहकर अंश और अंशी को पृथक् साबित किया जाय कि "अंश" प्रत्यय से अंश का और 'अंशी' इस प्रत्यय से अंशी का ज्ञान होता है। अतः अंशों से अंशी पृथक् ही है क्योंकि ये दोनों पृथक् २ प्रत्यय के विषय होते हैं। जो जिससे पृथक् प्रत्यय का विषय होता है वह उससे पृथक् ही है। जैसे स्तम्भ से कुडय। सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि यहां पृथक् प्रत्यय विषयता रूप हेतु असिद्ध है। क्योंकि अंश से अंशी कथंचित् अपृथक् प्रत्यय का विषय माना

गया है। समवाय की कोई सिद्धि नहीं होती है। यदि अंश से पृथक् होने पर भी अंशी को समवाय अंशों के साथ मिला देता है इसलिये जैसा "अंशों में अंशी है" यह प्रत्यय समवाय के बल से होता है—उसी प्रकार समवाय द्वारा सह्य में विंध्य है ऐसा प्रत्यय क्यों नहीं कराया जाता है? इन दोनों में भी अंशांशिभाव होना चाहिये। अतः अंशों से अंशी कथंचित् रूप से अभिन्न है—और उनका परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसा ही मानना चाहिये। इसलिये अंश और अंशी परस्पर में सापेक्ष होकर पुरुषार्थ के हेतु हैं— यह बात निश्चित होजाती है। इसी प्रकार अंशांशी की तरह नैगमादिकनय भी सत्तालक्षण रूप अर्थक्रिया में परस्पर सापेक्ष होकर ही पुरुषार्थ के हेतु हैं। क्योंकि इसी रूप से वे देखे जाते हैं। इससे स्थितिग्राही द्रव्यार्थिक नय के भेद नैगम, संग्रह और व्यवहार एवं प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय को ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिक नय के भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये सब परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु द्वारा साध्य अर्थ क्रिया रूप पुरुषार्थ के निर्णय में हेतु होते हैं—निरपेक्ष होकर नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का कि जो सत् रूप है वह सब प्रतिक्षण स्थित्युदयव्ययात्मक है, अन्यथा सत्त्व का सद्भाव नहीं हो सकता, प्रतिपादन स्वरूप युक्त्यनुशासन उदाहृत किया गया जानना चाहिए।

शंका—मानलिया जाय कि नय निरपेक्ष होकर कहीं पर भी

पुरुषार्थ के साधक नहीं होते हैं। परन्तु, इससे उनकी सत्तामात्र का भी अपलाप करना उचित नहीं है। अनुपयोगी पदार्थ की भी तो सत्ता मानी जाती है।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। पुरुषार्थ के प्रति असाधकता होने पर उनमें अर्थक्रिया के प्रति भी हेतुता नहीं आ सकती है। जिस प्रकार परस्पर निरपेक्षता में नयों में पुरुषार्थ क्रिया—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति हेतुता संभव नहीं होती है उसी प्रकार खरविषाण की तरह अपने अस्तित्व के प्रति भी हेतुता उनमें नहीं आ सकती है। इसलिये यह मानना चाहिये कि परस्परापेक्षस्थिति, उदय और व्यय रूप अंश ही वस्तु लक्षण रूप सत्त्व को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अनेकान्त की सिद्धि होती है। जीवादिक वस्तु में अनेकान्तात्मकता की सिद्धि विघटित करने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि "जीव को जिस प्रकार अपने में राग होता है—उसी प्रकार अनेकान्तात्मक वस्तु की मान्यता में उसे परात्मा में भी राग होना चाहिये। कारण कि इस अनेकान्त मान्यता में स्वात्मा और परात्मा में किसी अपेक्षा से अभेद जो होजाता है। तथा परात्मा की तरह स्वात्मा में भी द्वेष होना चाहिये—क्योंकि यहां कथंचित् भेद जो आजाता है। कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानना ही अनेकान्त है। जिस समय जीवादिक वस्तुओं में अनेकान्त की दृष्टि को लेकर कथंचित् अभेद माना जायगा—उस समय उनमें परस्पर में भेद न होने से स्वात्मा की तरह परात्मा के विषय में भी

अनुराग भाव का अस्तित्व मानना पड़ेगा। जिस समय भेद की दृष्टि मानी जावेगी—उस समय स्वात्मा के विषय में भी परात्मा की तरह द्वेष की उद्भूति मानना पड़ेगी। इस प्रकार राग और द्वेष के सद्भाव में ईर्ष्या, असूया, मद और मान आदि दोष जो संसार के ही कारण बनते हैं एवं जिनसे समस्त प्राणियों का चित्त विक्षिप्त हो जाता है और जिनका स्वभाव ही स्वर्ग एवं अपवर्ग को प्रतिबन्धक करने वाला है, उत्पन्न होते रहते हैं। इनकी उत्पत्ति में मानसिक समता सर्वथा निवृत्त हो जाती है। मानसिक समता की निवृत्ति में समाधिका निरोध हो जाता है। इस प्रकार निर्वाण जो समाधिहेतुक शास्त्रों में वर्णित हुआ है वह अनेकात्मक वस्तु की मान्यता में किसी भी जन को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये समाधि लक्षण रूप मन की समता प्राप्त करने की भावना वाले व्यक्ति को "वस्तु अनेकान्तात्मक है "ऐसा मानना उचित नहीं है।" इस प्रकार अनेकान्तात्मक वस्तु मानने में जो आपत्ति उपस्थित की गई है वह समीचीन नहीं है—इसी बात को स्पष्ट इस कारिका द्वारा सूत्रकार करते हैं—

एकान्तधर्माभिनिवेशमूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५२॥

अन्वय—रागादयः एकान्तधर्माभिनिवेशमूलाः। बनानां अहंकृतिजाः। एकान्तहानात् च सः यत्तदेव। ते स्वाभाविकत्वात् च मनः समः।

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीवों के रागद्वेष आदिक, एकान्त धर्म में जो अभिनिवेश–मिथ्यादर्शन होता है तन्मूलक होते हैं। मोही जीवों के ये अहंकार और ममकार से उत्पन्न होते हैं। एकान्त की हानि से–एकान्त के विरोधी अनेकान्त के निश्चय से–वह एकान्त धर्म का अभिनिवेश रूप मिथ्यात्व होता नहीं है। इसलिये हे नाथ! आपके इस युक्त्यनुशासन में एकान्त धर्म के अभिनिवेश रूप मिथ्यात्व के अभाव को आत्मा का स्वाभाविक रूप होने से मनकी समता सुघटित हो जाती है।

भावार्थ—शंकाकार ने राग और द्वेष को अनेकान्तात्मक वस्तु की स्वीकृति से उद्भूत बतलाया है। इस पर सूत्रकार का यह समाधान है कि मिथ्यात्व से दूषित आत्माओं में राग और द्वेष होने का कारण मिथ्यात्व श्रद्धान है। इसका सूचक सूत्र में "एकान्त धर्माभिनिवेशमूल" है। एकान्त रूप से निश्चित जो धर्म है वह एकान्त धर्म है। "एकान्तधर्म" में "गुडधान" पद की तरह मध्यम पदलोपी समास हुआ है। वस्तु सर्वथा नित्य ही है कथंचित् अनित्य नहीं, इस प्रकार का जो अभिनिवेश है वही मिथ्याश्रद्धान–मिथ्यादर्शन है। "रागादयः" पद में आदि शब्द से अनंतानुबंधी राग, द्वेष, माया और मान ग्रहीत हुए

है। साथ में अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रत्याख्यानावरण कषाय संज्वलन कषाय एवं हास्यादिक नव नोकषाय भी ग्रहीत हुए हैं।

शंका—राग शब्द का अर्थ लोभ है। ये लोभ आदिक दोष मिथ्यादर्शनमूलक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि चौथे गुण-स्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक यथासंभव लोभादिक का सद्भाव पाया जाता है। परन्तु वहां पर मिथ्यादर्शन का तो अभाव है।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि अनंत संसार के कारणभूत रागादिक मिथ्यादर्शन के अभाव में संभावित नहीं होते हैं। जो मिथ्यादृष्टियों के अनन्त संसार के कारणभूत रागादिक होते हैं वे मिथ्यादर्शन के सद्भाव में ही होते हैं। इस अपेक्षा से रागादिकों को मिथ्यादर्शनमूलक कहा गया है। इसीलिये उनमें मिथ्यादर्शन मूलत्व सिद्ध होता है। अब रही बात असंयतगुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक रहने वाले रागादिकों के विषय की, सो ये वहां यद्यपि मिथ्या-दर्शनमूलक न होकर असंयम, प्रमाद एवं कषाय परिणाममूलक होते हैं; फिर भी मिथ्यादृष्टियों में ये मिथ्यादर्शन मूलक ही हैं। ऐसा जानना चाहिये।

शंका—रागादिकों को यदि मिथ्यादर्शनमूलक माना जावे तो एकान्तवादी मिथ्यादर्शनों के प्रति उदासीनावस्था सम्पन्न व्यक्ति में भी रागादिक उत्पन्न होना चाहिये।

उत्तर—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। कारण कि रागा-

दिकों की इस अवस्था में उत्पत्ति नहीं होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने कारिका में "अहंकृतिश्चा:" पद रक्खा है। मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का जो जीव का परिणाम होता है वह अहंकृति—अहंकार है। यह ममकार का उपलक्षक है। यह मेरा भोग्य है इस प्रकार के परिणाम का नाम ममकार है। ममकार मिथ्यादर्शन का परिणाम स्वरूप ही है। जिस समय यह ममकार अहंकार सचिव—अहंकार से युक्त होता है उस समय ही यह रागादिकों का उत्पादक होता है, उदासीन अवस्था में नहीं। इस प्रकार ये रागादिक मिथ्यादृष्टि जीवों में एकान्त अभिनिवेश रूप बलिष्ठ मोह राजा के द्वारा ही उद्भूत होते हैं, ऐसा मानना चाहिये। तथा चोक्तम्—

ममकाराहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादिसकलपरिकरपरिपोषणतत्परौ सततम् ॥१॥

"ममकार और अहंकार मोहनीय राजा के सचिव जैसे हैं। ये निरन्तर रागादिक रूप अपने समस्त परिवार के पोषण करने में उद्यमशील रहते हैं।"

शंका—मोही जीवों में रागादिक अहंकारज भले हों; परन्तु वीतमोही जीवों में यह अहंकार उनका जनक कैसे हो सकता है? क्योंकि वहां अहंकार होने पर भी रागादिक नहीं पाये जाते हैं।

उत्तर—इस प्रकार की शंका उचित नहीं है। कारण कि यहां पर उसी अहंकार को रागादिक का जनक माना गया है

कि जिसका सहकारी मिथ्यादर्शन आदि है और वही अहंकार सूत्र में ग्रहीत हुआ है। मिथ्यादर्शन आदि सहकारी कारण से विकल जो अहंकार होता है वह रागादिकों के उत्पादन करने में शक्तिशाली नहीं होता है। जिस प्रकार मुर्मुरावस्थापन्न अग्नि अपने कार्योत्पादन में सर्वथा असमर्थ रहती है—नियामक नहीं होती है—उसी प्रकार वीतमोही जीवों में रहा हुआ अहंकार अपने कार्यरूप रागादिकों के उत्पादन करने में शक्ति-विहीन होता है।

शङ्का—एकान्तात्मक वस्तु का अभिनिवेश मिथ्यादर्शन है यह कैसे निश्चित होता है?

उत्तर—यह ऐसे निश्चित होता है कि वस्तु जब अनेकान्तात्मक है—तो प्रमाण से उस अनेकान्तात्मक वस्तु का ही निश्चय होता है। सम्यक् एकान्त का कि जिसमें प्रतिपक्ष की अपेक्षा रहती है नय से व्यवस्थापन होता है। इसलिये एकान्त का अभिनिवेश होना मिथ्यादर्शन ही है, यह बात निश्चित होती है। सम्यग्दृष्टि के एकान्त की हानि होने पर उस एकान्त के विरोधी अनेकान्त के निश्चय से वह एकान्तधर्माभिनिवेश रूप मिथ्यात्व होता नहीं है। कारण कि एकान्त धर्म का अस्तित्व हो, तो उसमें अभिनिवेश किसी को संभवित हो सकता है—एकान्त का अभिनिवेश ही एकान्त को विषय करने वाला होता है—जब एकान्त का अस्तित्व ही नहीं है तो उसका अभिनिवेश भी सम्यग्दृष्टि के कैसे हो सकता है? जब यह एकान्ताभिनिवेश

सम्यग्दृष्टि के नहीं है—तो फिर इस स्थिति में जो आत्मा का वास्तव स्वरूप यथार्थदर्शन–सम्यग्दर्शन है वही इस सम्यग्दृष्टि के होता है। कारण कि एकान्ताभिनिवेश का अभाव सम्यग्दर्शन के सद्भाव रूप माना गया है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा का स्वाभाविक रूप है। क्योंकि इसी में स्वाभाविक रूपता सिद्ध होती है। अतः आपके युक्त्यनुशासन में सम्यग्दृष्टि के मन का समत्व आत्मा का स्वाभाविक रूप होने से घटित होता है। दर्शन मोहनीयरूप मूलकारण के उदय होने पर चारित्र मोहनीय के उदय में जायमान रागादिक जीवों के औदयिक भाव रूप होने से अस्वाभाविक ही हैं। तथा–दर्शनमोहनीय के नाश से एवं चारित्र मोहनीय की उदयहानि से और रागादिकों के अभाव से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणाम स्वाभाविक हैं। आत्मा का स्वरूप होने से सम्यग्दर्शन में औपशमिकता, क्षायोपशमिकता एवं क्षायिकता स्वाभाविक ही है, पारिणामिक नहीं, कारण कि पारिणामिक भावों में कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं होती है। इसी प्रकार ज्ञान में क्षायोपशमिकता एवं क्षायिकता, सम्यक्चारित्र में सम्यग्दर्शन की तरह औपशमिकत्वादित्रयता भी पारिणामिक भाव रूप न होकर स्वाभाविक ही है।

शंका—चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि में मन की समता कैसे घटित हो सकती है। क्योंकि उसमें रागद्वेषात्मक असंयम का सद्भाव रहता है।

उत्तर—असंयत सम्यग्दृष्टि जीव को किसी विवक्षित एकांत में राग का अभाव और अविवक्षित एकान्त के प्रति द्वेष का अभाव होने से वहां इन दोनों एकान्तों के प्रति उदासीनता सिद्ध होती है। इससे विवक्षित एकान्त की तरह अविवक्षित एकान्त का भी अनिराकरण होने से इतनी मात्र मन की समता का उसमें सद्भाव पाया जाता है।

शंका—यदि असंयत सम्यग्दृष्टि में मन की समता का सद्भाव माना जाता है तो फिर उसमें संयतता का भी प्रसंग मानना पड़ेगा। क्योंकि मन की समता ही संयमरूप है। इस अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि में संयम का सद्भाव हो जाने से उसमें असंयमता का सद्भाव मानना ठीक नहीं है।

उत्तर—कौन ऐसी बात कहता है कि सर्वथा संयम का अभाव असंयत सम्यग्दृष्टि के है। क्योंकि उसके अनंतानुबंधी कषायस्वरूप असंयम के अभाव से संयम का सद्भाव सिद्ध होता है।

शंका—तो फिर चतुर्थगुणस्थानवर्ती को असंयत कैसे माना है?

उत्तर—चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को जो असंयत माना गया है उसका कारण उसके चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी कषाय के अतिरिक्त शेष १२ अप्रत्याख्यान आदि कषाय रूप असंयम का सद्भाव है। इसीलिये पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान कषाय रूप

असंयम के अभाव को लेकर तथा प्रत्याख्यान और संज्वलन रूप असंयम के सद्भाव को लेकर संयतासंयत माना गया है।

शंका—तो इस प्रकार चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों में और पंचमगुणस्थानवर्ती जीवों में संयतासंयतत्व आने से उन्हें एक ही क्यों न मान लेना चाहिये ?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं—चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यान कषाय का सद्भाव है, और पंचमगुणस्थानवर्ती के नहीं। इस अपेक्षा इन दोनों में भेद है।

शंका—यदि सम्यग्दृष्टि जीव में कषाय रूप असंयम के सद्भाव से और कषायरूप असंयम के असद्भाव से संयतासंयत्व माना जावेगा, तो फिर इस प्रकार की मान्यता में प्रमत्तसंयत ६ छठवें गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान सूक्ष्मसाम्पराय के जीवों को भी संयतासंयत्व मानने का प्रसंग आवेगा—क्योंकि वहां संज्वलनकषायात्मक एवं नोकषायात्मक असंयम का सद्भाव पाया जाता है। तथा अनंतानुबंधी आदि १२ कषाय रूप असंयम का अभाव भी पाया जाता है।

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है—कारण कि संज्वलन कषाय आदि की असंयमरूप से विवक्षा नहीं की गई है। संज्वलन कषाय असंयम रूप नहीं मानी गई है—कारण कि संज्वलन कषाय पानी में खेंची गई लकीर के समान क्षणिक—अस्थायी होने से मोह की १२ अनंतानुबंधी आदि कषायों के अभाव स्वरूप संयम के साथ अविरोध स्वभाव वाली है। तथा परम

संयम के अनुकूल है–परम संयम की ओर ले जाने वाली है। निष्कर्ष इसका यही है कि छठवें गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक के जीव संयत ही हैं, असंयत नहीं। संज्वलन कषाय असंयम रूप से विवक्षित नहीं है। इसलिये जिस प्रकार असंयत-सम्यग्दृष्टि के स्वानुरूप मन की समता की अपेक्षा मन का सम होना सिद्ध होता है उसी प्रकार नव प्रकार के संयतासंयतों के भी मन की समता सुघटित होती है। इसमें कोई असंभव जैसी बात नहीं है। अतः यह अनेकान्त रूप युक्त्यनुशासन रागादिक का निमित्त कारण नहीं है–वह तो मन की समता का निमित्त-भूत है।

शङ्का—"अनेकांतवादी को भी अपने अनेकान्त में राग और सर्वथा एकान्त में द्वेष होने से मन में समता कैसे आ सकती है? जब मन में समता नहीं आती है तो मोक्ष कैसे बन सकता है। दूसरे–सर्वदा यदि मन सम रहेगा तो बंध नहीं होगा–जब बन्ध नहीं हुआ तो बन्धपूर्वक होने वाला मोक्ष भी कैसे होगा? अतः बन्ध और मोक्ष ये दोनों जिन–सिद्धान्त से इस मन की समता में बाह्य हो जाते हैं। अतः मन की समता और असमता रूप दोनों ही हालतों में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बन नहीं सकती है" इस प्रकार कहने वालों के प्रति आचार्य—सूत्रकार यह कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। सो ही इस कारिका द्वारा दिखाया जाता है–

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी
जिन ! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः ।
एकस्य नानात्मतयाज्ञवृत्तेः
तौ बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥५३॥

अन्वय—जिन ! एकस्य नानात्मतया त्वदीयैः पटुसिंहनादैः प्रतिपक्ष-दूषी प्रमुच्यते । ज्ञवृत्तेः तौ बन्धमोक्षौ स्वमतात् अबाह्यौ ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! जो किसी अपेक्षा से एक रूप है, वही किसी अन्य अपेक्षा से नाना स्वरूप भी है, इस प्रकार से आपके निःसंदिग्ध और अबाध्य सिंहनादों से प्रतिपक्षदूषी मुक्त कराया जाता है । बन्ध और मोक्ष आत्मवृत्ति होने से अनेकान्त मत से अबाह्य हैं ।

भावार्थ—हे वीर जिनेन्द्र ! जिस प्रकार कुंजर आदि के नादों से सिंह के नाद तिरस्कृत नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार क्षणिकादि एकान्त के प्रतिपादक सुगत आदि के शब्दों से सम्यक् अनेकान्त के प्रतिपादिक आपके शब्द भी बाधित नहीं हो सकते हैं । इसलिये जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को निराकरण करने का स्वभाव वाला प्रतिपक्ष दूषी नित्यत्वैकान्तवादी है वह अनेकान्तवादी आपके द्वारा युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी वचनों से समझा बुझाकर अपने एकान्तवाद से मुक्त करा दिया जाता है । जो वस्तु किसी अपेक्षा से एकत्व धर्म विशिष्ट है वही किसी दूसरी अपेक्षा से नानात्मक भी है । इस प्रकार नानात्मक एक

वस्तु का निश्चय ही सर्वथा एकान्त का प्रमोचन है। इस एकान्त प्रमोचन में अनेकान्तवादी को कोई द्वेष का संभव नहीं हो सकता है। द्वेष का संभव तो जब होता कि एकान्त का अस्तित्व होने पर भी जब वह मान्य न किया जाता। सर्वथा एकान्त की सत्ता तो सिद्ध है ही नहीं—एवं सर्वथा स्वरूप सत्ता से विहीन इस एकान्त को जो मानने वाले हैं—वे अनेकांत के सिद्धान्त से जब परिचित करादिये जाते हैं—तो वे विवेक की जागृति से स्वतः ही एकान्त-ग्रह से मुक्त हो जाते हैं। अतः अनेकान्तवादी को एकान्तवाद में द्वेष कैसे संभव हो सकता है? अनेकान्त में भी उसका सर्वथा राग नहीं होता है; क्योंकि अनेकान्त का प्रतिपक्षी जो सम्यक् एकान्त है उसे भी तो वह स्वीकार करता है। अतः अनेकान्तवादी को स्वपक्ष में सर्वथा राग और सर्वथा एकान्त में द्वेष का मानना युक्ति-युक्त नहीं है। दूसरी बात यह भी है—कि तत्त्व एकान्तात्मक है अथवा अनेकान्तात्मक है—इस प्रकार की विचार धारा में तत्त्व के स्वरूप का निश्चय होता है। यह तत्त्व के स्वरूप का निश्चय राग थोड़े ही माना जा सकता है। क्योंकि यह राग माना जायगा तो क्षीण मोहवालों में भी राग का प्रसंग मानना पड़ेगा। कारण कि तत्त्व का स्वरूप सर्वथा एकान्तात्मक न होकर कथंचित् अनेकान्तात्मक है—यह निश्चय उनके द्वारा ही किया जाता है; अक्षीण मोहवालों के द्वारा नहीं। इसी प्रकार अतत्त्व का व्यवच्छेद करना भी द्वेष नहीं है। यदि तत्त्व का

निश्चय राग और अतत्त्व का व्यवच्छेद द्वेष माना जाता तो यह बात मानी जा सकती थी कि अनेकान्तवादी के मन की समता नहीं हो सकती। परन्तु ऐसी मान्यता तो है नहीं–अतः अनेकान्तवादी के मन की समता होने से तन्निमित्तक मोक्ष भी उसके सुघटित हो जाता है। इसी प्रकार बन्ध भी घटित होता है—क्योंकि ऐसा तो है ही नहीं जो सदा काल सर्वत्र सर्वरूप से मन सम ही रहे और इससे राग द्वेष के अभावपूर्वक बंध का अभाव हो जाय। क्योंकि गुणस्थानों की अपेक्षा से कथंचित् कवचित् किंचित् कदाचित् पुण्य के बन्ध का सद्भाव उत्पन्न होता है। इसलिये बंध और मोक्ष अनन्तात्मक तत्त्व को विषय करने वाले अनेकान्त सिद्धान्त से बाह्य नहीं हैं—क्योंकि वहीं पर उनका सद्भाव है–ये दोनों तत्त्व अनंतधर्मात्मक आत्मा में वृत्ति वाले हैं। यद्यपि अनंत धर्मात्मक सांख्याभिमत प्रकृति भी है परन्तु उसमें इनकी वृत्ति इसलिये नहीं है कि वह अज्ञ–अचेतन है।—मतलब इस कारिका का यही है कि अनेकान्तवादी को स्वपक्ष से न तो सर्वथा राग है और न पर पक्ष से सर्वथा द्वेष ही है। इस परिस्थिति में अनेकान्त सिद्धान्त की मान्यता में बंध और मोक्ष सुघटित होते हैं।

शंका—एक पदार्थ नानात्मक है, इस प्रकार उसके प्रतिपादन करने वाले शब्द पटुसिंहनाद रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। कारण कि बौद्धों के यहां अन्यापोह रूप सामान्य को ही वचनों का आश्रय–विषय माना गया है। ऐसी परिस्थिति में वचनों

को वस्तु को विषय करने वाला मानना असंभव है। इस प्रकार की यह बौद्धों की उक्ति असत् ही है, इसी बात को ग्रन्थकार इस कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

आत्मान्तराभावसमानता न
वागास्पदं स्वाश्रयभेदहीना।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५४॥

अन्वय—आत्मान्तराभावसमानता स्वाश्रयभेदहीना: (अत:) वागास्पदं न। भावस्य सामान्यविशेषवत्वात्। तयो: ऐक्ये अन्यतरत् निरात्म (स्यात्)।

अर्थ—आत्मान्तर के अभाव रूप समानता—अन्यापोहरूप सामान्य—अपने आश्रयरूप भेदों से हीन है। इसलिये वह वचन का विषय नहीं होती है। दूसरे बात यह है कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वचन का विषय होती है, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं। अन्यापोह केवल सामान्य रूप है इसलिये वह वचन गोचर नहीं होता है। सामान्य और विशेष की एकता में या तो सामान्य का अभाव हो जायगा या विशेष का अभाव हो जायगा।

भावार्थ—एक पदार्थ नानात्मक है—इस प्रकार उसके प्रतिपादन करने वाले शब्द पद्रुसिंहनाद इसलिये नहीं हैं कि शब्दों

का अर्थ जिस अर्थ में वे प्रयुक्त होते हैं उनका वह अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है। दृष्टान्त के लिये यों समझना चाहिये–हम जब "गौ" इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो "गो" इस शब्द से "गाय" इस अर्थ का बोध नहीं होता है। किन्तु गाय से भिन्न जो अश्व आदि हैं उनकी व्यावृत्ति का ही "गो" इस शब्द से बोध होता है। इसी का नाम अन्यव्यावृत्ति–अन्यापोह है। यह अन्यव्यावृत्ति रूप अन्यापोह सामान्य है। गाय से भिन्न जो अश्व आदि हैं वे ही सूत्र में आत्मान्तर पद से ग्रहीत हुए हैं। गाय में इनकी जो व्यावृत्ति है वह अभाव शब्द से ग्रहीत हुई है। समानता शब्द का अर्थ सामान्य है। "स्वाश्रय भेद हीना" में "स्व" शब्द से अन्यापोह सामान्य का ग्रहण हुआ है। यह अन्यापोह अपने आश्रय रूप भेदों–विशेषों से हीन है। जब यह अन्यापोह सामान्य अपने आश्रय रूप विशेषों से रहित है तब वागास्पदता उसमें नहीं आती है। अन्यापोह सामान्य पक्ष है। "न वागास्पदं" यह साध्य है। स्वाश्रयभेदहीनत्व यह हेतु है। जो सामान्य विशेषात्मक भाव स्वरूप वस्तु है उसी में वागास्पदता बनती है। केवल सामान्य में नहीं।

शंका—पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक मानने पर भी अथवा पदार्थ को सामान्य विशेषवान् होने पर भी सामान्य में ही वागास्पदता युक्त है, क्योंकि विशेष में तदात्मकता है अर्थात् विशेष सामान्य का ही आत्मा है। इस अपेक्षा सामान्य

और विशेष में ऐक्य सिद्ध हो जाता है। ऐक्य सिद्ध होने से सामान्य में वाग्गास्पदता घटित हो जाती है।

उत्तर—"ऐक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म" यह पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है। कारण कि सामान्य और विशेष इन दोनों में परस्पर में यदि ऐक्य माना जावेगा तो एक की निरात्मता—अभाव—में अन्य में भी निरात्मता की आपत्ति मानना पड़ेगा। यदि विशेष को सामान्य के समक्ष निरात्म मानने में आता है तो विशेष का अविनाभावी जो सामान्य है उसे भी निरात्म मानना पड़ेगा। इस परिस्थिति में सर्वत्र निरात्मकता का सामान्य छा जाने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। सामान्य को निरात्म मानने में तदविनाभावी विशेष को भी निरात्म मानने का प्रसंग आता है। अतः सामान्य और विशेषों में एकता नहीं मानना चाहिये। एकता के अभाव में केवल सामान्य में वचनीयता नहीं आती है।

> अमेयमश्लिष्टममेयमेव,
>
> भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्।
>
> वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न,
>
> मानं च नानंतसमाश्रयस्य ॥५५॥

अन्वय—अमेय अश्लिष्टं अमेयमेव, तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् भेदेऽपि (तत् अमेयमेव)। कृत्स्नांशविकल्पतो वृत्तिः न। अनंतसमाश्रयस्य (एकस्य ग्राहकं) मानं च न।

अर्थ—सामान्य नियत देश, नियतकाल और नियत आकार से रहित है एवं विशेषों से भी असम्बन्धित है-रहित है। ऐसी अवस्था में वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। द्रव्यादिकों में सामान्य की वृत्ति का अभाव होने से, स्वाश्रयों से उसका भेद मानने पर भी वह प्रमेय नहीं हो सकता हैं। कृत्स्न रूप विकल्प से एवं अंशरूप विकल्प से देश काल एवं आकार से भिन्न व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति नहीं बनती है। अनंत व्यक्तियों का आश्रय एक महासत्ता रूप सामान्य है-इस विषय का ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है।

भावार्थ—इस कारिका के द्वारा सूत्रकार इस आशंका का कि "अन्यापोह रूप सामान्य अभावरूप होने से भले ही वचनों का वाच्य न हो, परन्तु जो सर्वगत एवं विशेषों से अश्लिष्ट भावरूप सामान्य है वही वचनों द्वारा वाच्य होता है" परिहार कर रहे हैं। क्योंकि जिसका देश, काल और आकार नियत नहीं है-देश की अपेक्षा, काल की अपेक्षा और आकार की अपेक्षा जो अनियमित है-और इसीलिये जो तद्रूप से प्रमेय नहीं है ऐसा सर्वव्यापी, नित्य और निराकार सत्त्वादि सामान्य कि जिसमें विशेषों का सम्बन्ध बन नहीं सकता है-जो अपने विशेषों से अश्लिष्ट है-वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता-प्रत्यक्ष आदि ऐसा कोईसा भी प्रमाण नहीं है जो ऐसे सत्त्वादि सामान्य की सत्ता सिद्ध कर सके। जिस प्रकार एकान्त रूप से एक ब्रह्म मात्र तत्त्व मानने वालों का ब्रह्मतत्त्व

प्रत्यक्ष द्वारा अप्रतिभासित होने के कारण प्रसिद्ध नहीं हो सका उसी प्रकार विशेष निरपेक्ष, सर्वव्यापी नित्य एवं निराकार इस सामान्य का भी अस्तित्व प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसे सामान्य का प्रत्यक्ष में प्रतिभास नहीं होता है। जब प्रत्यक्ष में सामान्य का प्रतिभास नहीं होता—तब उसके द्वारा उसकी प्रसिद्धि कहना ठीक नहीं। रहा अनुमान, सो जब तक सामान्य के साथ अविनाभाव रूप से रहनेवाला कोई साधन प्रतीत नहीं हो लेता तब तक अनुमान का उत्थान भी नहीं हो सकता। यदि अनुमानोत्थान के लिये सत्, सत् इत्यादि रूप अनुवृत्ति प्रत्यय माना जावे और कहा जावे कि इस प्रत्यय से उत्थ अनुमान सत्त्वादि सामान्यके अस्तित्व का अनुमापक होता है, सो ऐसा कहना निर्दोष इसलिये नहीं हो सकता कि असत् असत् इस अनुवृत्ति प्रत्यय से इसमें व्यभिचार आता है। मतलब इसका यह है कि सत्ता सामान्यवादी इस प्रकार कहता है कि यदि सत्ता सामान्य न होता तो सत् सत् इत्याकारक जो अनुवृत्ति (एकाकार) प्रत्यय होता है वह नहीं हो सकता। अतः सत् सत् इत्याकारक प्रत्ययरूप हेतु से सत्ता सामान्य अनुमित हो जाता है। इस पर सूत्रकार का यह कथन है कि इस प्रकार से यदि सत्ता सामान्य की आप सिद्धि करना चाहते हैं तो असत् असत् इत्याकारक अनुवृत्ति प्रत्यय से असत्ता सामान्य भी सिद्ध हो जाना चाहिये। जैसे सत् सत् यह प्रत्यय सत्ता रूप सामान्य का अनुमापक होता है इसी प्रकार असत्तारूप सामान्य का भी असत् असत् इत्या-

कारक प्रत्यय अनुमापक होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है असत्त्व सामान्य का अभाव है–फिर भी इस प्रकार के प्रत्यय का उत्थान होता है। वैशेषिकादि सम्मत द्रव्यादि षट् पदार्थों में पदार्थत्व सामान्य के अभाव में भी "यह भी पदार्थ है यह भी पदार्थ है" इत्यादि रूप अनुवृत्ति प्रत्यय भी होता है–तो इससे पदार्थत्व सामान्य भी सिद्ध होजाना चाहिये। परन्तु पदार्थत्व सामान्य उस सिद्धान्त में मान्य ही नहीं हुआ है।

शङ्का—सत् सत् इत्याकारक अनुवृत्ति प्रत्यय असत् असत् इत्याकारक अनुवृत्ति प्रत्यय से व्यभिचरित नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रागसदादिकों–प्रागभावादिकों–में जो असत् असत् इस प्रकार का अनुवृत्ति प्रत्यय होता है वह मिथ्या है। सत्तारूप सामान्य का अनुमापक सत् प्रत्यय सच्चा है। झूठे से सच्चे का बोध नहीं हो सकता है।

उत्तर—इस प्रकार का कथन उचित नहीं है। क्योंकि सत्ता रूप सामान्य का अनुमापक सत् प्रत्यय सच्चा है और प्राग-भावादिकों में होने वाला असत् प्रत्यय झूठा है–यह बिना प्रमाण के केवल कहने मात्र से सिद्ध नहीं हो सकता है।

शंका—प्रागभावादिक में होने वाला अनुवृत्ति प्रत्यय मिथ्या है–यह कथन प्रमाण शून्य नहीं है। इसमें बाधक प्रमाण का सद्भाव है। और वह बाधक प्रमाण इस प्रकार है-प्रागभावादिक सामान्य विशिष्ट नहीं हैं क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म इनसे वे

भिन्न हैं। जिस प्रकार सामान्य, विशेष और समवाय, द्रव्य, गुण और कर्मों से भिन्न होने के कारण सामान्य विशिष्ट नहीं है।

उत्तर—यह अनुमान रूप जो बाधक प्रमाण उपस्थित किया गया है वह साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव रूप नियम के निश्चय के असत्त्व से व्यतिरेकासिद्ध है-अर्थात् बाधक प्रमाण रूप अनुमान में "न सामान्यवन्तः" यह साध्य है। इसका व्यतिरेक "सामान्यवन्तः" है। जहां सामान्यवत्ता है-सामान्य विशिष्टता है-वहां द्रव्य, गुण और कर्म से अन्यत्व नहीं है। प्रागभावादिकों में सामान्य विशिष्टता निषेध करने के लिये "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यत्वात्" यह हेतुरूप से उपपादित हुआ था। इसका व्यतिरेक द्रव्य, गुण और कर्म से अन्यत्व नहीं है-ऐसा होता है। तथा च-"जो सामान्य वाला होता है वह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न नहीं होता है जैसे यह अमुक पदार्थ" इस प्रकार इस बाधक प्रमाण रूप अनुमान में अविनाभाव नियम सिद्ध नहीं होता है।

शंका—इस बाधक रूप अनुमान में अविनाभाव नियम इस प्रकार से देखो सिद्ध होजाता है-द्रव्यादि-पदार्थत्व से सामान्यवत्त्व व्याप्त है-जहां द्रव्य, गुण और कर्म रूपता होगी वहां नियम से सामान्यवत्ता रहेगी-इस प्रकार द्रव्यादिपदार्थ के साथ सामान्यवत्ता को विनिश्चित कर प्रागभावादिकों में सामान्यवत्ता के व्यापक द्रव्य गुण एवं कर्म रूप पदार्थत्व का अभाव होने से

इसके व्याप्य सामान्यवत्व का भी वहां अभाव साध्य होता है। मतलब इसका यह है कि सूत्रकार ने जो पहिले व्यतिरेक की असिद्धि प्रदर्शित की है शंकाकार उसका परिहार इस प्रकार से करता है—कि द्रव्य गुण एवं कर्म ये तीनों सामान्यवत्ता के व्यापक हैं और सामान्यवत्ता व्याप्य है। प्रागभावादिकों में द्रव्य, गुण एवं कर्म रूप व्यापकता रहती नहीं है—इसलिये व्यापक के अभाव में तद्व्याप्य सामान्यवत्ता कैसे रह सकती है—नहीं रह सकती। इसलिये जो व्यतिरेकासिद्धिरूप अविनाभाव असिद्ध प्रकट किया गया है वह ठीक नहीं है ?

उत्तर—यह कथन भी ठीक नहीं है—कारण कि द्रव्यादि पदार्थ के साथ सामान्यवत्त्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। ऐसा कोई नियम ही नहीं बन सकता कि जहां पर द्रव्यादि पदार्थत्व होगा वहीं पर सामान्यवत्ता होगी। कारण कि द्रव्यादिक भी स्वयं सामान्य से शून्य है। "सामान्यशून्यानि द्रव्यगुणकर्माणि तत्त्वात्मकत्वात् प्रागभावादिवत्" तत्त्वात्मक होने से प्रागभावादि की तरह द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थ सामान्य से रहित हैं। "प्रागभावादिवत्" यह दृष्टान्त साधन से विकल नहीं है। कारण कि प्रागभावादि पदार्थ जो असद्वर्ग में परिगणित हैं स्वयं तत्त्व रूप से स्वीकृत हुए हैं। "सदसद्वर्गस्तत्त्वम्" ऐसा सूत्र है। इसका अर्थ—सद्वर्ग—द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय एवं असद्वर्ग—प्रागभावादि पदार्थ ये सब तत्त्वस्वरूप हैं" यह है। यदि ये प्रागभावादि पदार्थ अतत्त्व रूप माने जायेंगे

तो सर्वत्र असत्प्रत्यय में मिथ्यात्वापत्ति आने से कार्य द्रव्य में अनादिता अनन्तता एवं पदार्थों में सर्वात्मकता और व्यपदेशाभाव रूप दोषों का अनुषंग होगा। तथा चोक्तम्–

कार्यद्रव्यमनादिस्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनंततां व्रजेत्॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यात् अन्यापोह–व्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा॥

प्रागभाव के निह्नव में कार्य द्रव्य में अनादिता, प्रध्वंसाभाव के अभाव में अनन्तता–विनाशरहितपना, अन्योन्याभाव के अभाव में सर्वात्मकता एवं अत्यन्ताभाव के अभाव में अव्यपदेशता इस प्रकार चार प्रकार के अभावों में अतात्त्विकता मानने पर ये चार प्रकार के दोष आते हैं।

शंका—द्रव्य, गुण और कर्म इन पदार्थों में सामान्य शून्यता सिद्ध करने के लिये जो "तत्त्वात्मकत्वात्" हेतु दिया है वह "द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्ति मुख्यसद्वर्गत्वात्" "द्रव्य गुण और कर्म सामान्य विशिष्ट हैं मुख्य सद्वर्ग होने से" इस प्रतिपक्ष रूप केवल व्यतिरेकी अनुमान से बाधित होता है। अतः इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्यादिक में सामान्य शून्यता जाहिर करने के लिये प्रदत्त हेतु अबाधित नहीं है। प्रतिपक्ष अनुमान से बाधित ही है।

उत्तर—यह प्रतिपक्ष अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित

विषय वाला होने से कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित है। अतः सामान्य शून्यता प्रदर्शक हेतु का बाधक नहीं हो सकता है। द्रव्यादिक पदार्थों में एक दूसरा पदार्थ सामान्य रहता है यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित नहीं होती है। प्रत्यक्ष से तो यही प्रतिभासित होता है कि ये द्रव्य, गुण और कर्म अपने २ में समान हैं। इस प्रकार सदृश परिणमन रूप सामान्य की ही प्रत्यक्ष से प्रतीति होने से "यह वही है" इत्याकारक अनुवृत्ति प्रत्यय रूप सामान्य की द्रव्यादिकों में असिद्धि ही है। अतः यह बात यहां तक के कथन से स्पष्ट होजाती है कि सामान्य में ऐसा कोई लिंग नहीं है कि जिससे यह सामान्य अनुमान से मेय हो सके।

सामान्य का अनुमापक अनुमान न होने से ही वह सामान्य आगम प्रमाण द्वारा भी मेय नहीं हो सकता है। एवं जो आगम युक्ति से रिक्त है वह अप्रमाण कोटि में आजाने से सामान्य का व्यवस्थापक कैसे माना जा सकता है। उपमान प्रमाण भी सामान्य सदृश किसी और दूसरी वस्तु का अभाव होने से सामान्य का व्यवस्थापक नहीं होता है। अतः अनियत देश, काल और आकार वाला बना हुआ यह सामान्य सामान्यवान् अपने आश्रयरूप द्रव्य गुण एवं कर्म से भिन्न रहकर किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। दूसरे स्वाश्रयों से सामान्य का भेद मानने पर भी सामान्य की अपने आश्रयों में द्रव्य, गुण और कर्म में—वृत्ति बन ही नहीं सकती है। जब उसकी वहां

वृत्ति ही नहीं बनती है तो वह प्रमेय भी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

सामान्य की स्वाश्रयों में वृत्ति यदि मान भी ली जाय तो वहां पर यह प्रश्न होता है कि यह वृत्ति किस रूप पडती है। संयोग रूप या समवाय रूप। संयोग रूप तो वह पड नहीं सकती–कारण कि "द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः" दो द्रव्यों का ही कुण्ड और बदर की तरह संयोग होता है। सामान्य द्रव्य नहीं है। जहां द्रव्यों की परिगणना वैशेषिक सिद्धान्त में की है वहां सामान्य को द्रव्य नहीं माना है। अतः अपने आश्रयों में सामान्य का रहना संयोग सम्बन्ध रूप नहीं बनता है। वह वृत्ति समवाय रूप इसलिये नहीं रहती है कि समवाय अयुत-सिद्धि को विषय करता है। जिनमें परस्पर में अयुतसिद्धि होती है वहीं पर समवाय सम्बन्ध बनता है। सामान्य एवं सामान्य-वाले द्रव्यों में अयुतसिद्धि संभवित नहीं होती है। कारण कि यह अयुतसिद्धि क्या है। वैशेषिक सिद्धान्त में जिस अयुतसिद्धि का कथन किया है वह अयुतसिद्धि वह है–अथवा लोक में जो अयुतसिद्धि प्रसिद्ध है वह यह अयुतसिद्धि है ? सामान्य एवं सामान्यवानों में शास्त्रीय अयुतसिद्धि इसलिये नहीं बन सकती है कि सामान्य और सामान्य विशिष्ट द्रव्यादि पदार्थ ये दोनों पृथक २ आश्रय में रहते हैं। "अपृथगाश्रयवृत्तित्वं अयुत-सिद्धत्वम्" वैशेषिक शास्त्र में यह अयुतसिद्ध का लक्षण कहा गया है। इससे सामान्य और सामान्य वालों में अपृथगाश्रयता

का अभाव होने से युतसिद्धि ही संभवित होती है । "पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धित्वं" यह युतसिद्धि का लक्षण है । और यही लक्षण यहां पर घटित होता है । अत: इस लक्षण की घटना से यहां अयुतसिद्धि न घटकर युतसिद्धि ही घटित होती है । क्योंकि सामान्य रहेगा द्रव्यादित्रिक में और द्रव्यादित्रिक रहेंगे अपने आश्रयरूप अवयवों में । जिस प्रकार 'कुण्डे परमाणुः' यहां परमाणु से भिन्न कुण्ड की अपने आश्रयभूत अवयवों में वृत्ति होने से उसमें पृथगाश्रयवृत्तिता है । और इसीलिये कुण्ड और परमाणु में अपृथगाश्रयवृत्तिता के अभाव से युतसिद्धि का लक्षण सुघटित होता है । यदि यहां यह कहा जाय कि "कुण्डे परमाणुः" कि "कुण्ड में परमाणु है" इसमें पृथगाश्रय वृत्तिता नहीं है क्योंकि "कुण्ड में बदर है" यहां जैसे चार बातों की प्रतीति होती है—वैसे कुण्डे परमाणु इसमें नहीं होती है । यहां तो सिर्फ तीन ही बातें प्रतीत होती हैं—वे इस प्रकार हैं—१. परमाणु, २. कुण्ड, ३. कुण्ड के अवयव । कुण्ड में बदर हैं—यहां ४ बातें प्रतीत होती हैं, १. कुण्ड, २. कुण्ड के अवयव, ३. बदर और बदर के अवयव । "पृथगाश्रयाश्रयित्वं" इस पद से चार आश्रय वाली वृत्ति ही युतसिद्धि कही गई है । अतः "कुण्डे परमाणुः" यहां युतसिद्धि का लक्षण घटित नहीं होने से इन दोनों में युतसिद्धि बन ही कैसे सकती है ? यदि इस पर यों कहा जाय कि परमाणु की कुण्ड में वृत्ति है नहीं, क्योंकि परमाणु आकाश की तरह निरवयव है । सो भी ठीक नहीं—

कारण कि इस प्रकार की मान्यता से तो सामान्य एवं निरवयवी गुणादिकों की वृत्ति कहीं हो ही नहीं सकेगी। क्योंकि परमाणु की तरह सामान्य एवं गुणादिक भी तो निरंश-निरवयव हैं। परमाणु और कुण्ड में यदि युतसिद्धि का अभाव माना जायेगा तो इसका मतलब यह होगा कि उन दोनों में अयुतसिद्धि है। अयुतसिद्धि के प्रसंग से परमाणु और कुण्ड में समवाय सम्बन्ध का भी प्रसंग दुर्निवार होगा। संयोग सम्बन्ध तो युतसिद्धि के अभाव में विरुद्ध पड़ता है—नहीं बन सकता है। अतः कुण्ड और परमाणु में संयोग सम्बन्ध मानने वालों द्वारा युतसिद्धि का जो पृथगाश्रयाश्रयित्व लक्षण है वह चतुराश्रय भी है और त्र्याश्रय भी है, ऐसा मानना चाहिये। "कुण्डे बदराणि" यहां युतसिद्धि चतुराश्रयाश्रयणी है और "कुण्डे परमाणुः" यहां त्र्याश्रयाश्रयणी है। "नित्यानां पृथग्गतिमत्त्वं युतसिद्धिः" नित्यों के पृथग्गतिमत्ता रूप युतसिद्धि कही गई है—सो यह युत सिद्धि का उस पूर्वोक्त लक्षण से भिन्न लक्षण नित्यों में घटित नहीं होता—असम्भवित है। कारण कि वैशेषिक सम्मत नित्य द्रव्य आत्मा, आकाश आदिकों में न तो अन्यतर पृथग्गति-मत्त्व ही बनता है और न उभय पृथग्गतिमत्त्व बनता है। अतः उनमें इस लक्षण की संगति न हो सकने से अयुतसिद्धि का प्रसंग मानना पड़ेगा। परन्तु वैशेषिक सिद्धान्तकारों की दृष्टि में आत्मा आकाशादिकों में युतसिद्धि ही मानने में आई है। इसलिये इनकी तरह सामान्य और सामान्य वाले द्रव्यादिकत्रिक

में भी युतसिद्ध ही सिद्ध होती है। इस प्रकार सामान्य और सामान्य विशिष्टों में शास्त्रीय-वैशेषिक शास्त्र कथित अयुतसिद्धि सम्भवित नहीं होती। रही देश और काल की अपेक्षा अभेद लक्षण वाली लौकिकी अयुतसिद्धि सो यह तो दुग्ध और पानी में भी है। अतः इसके सद्भाव में वहां पर भी समवाय सम्बन्ध मानने का प्रसंग आवेगा। परन्तु ऐसा नहीं है। कारण कि दुग्ध और पानी के सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध ही माना गया है। इसलिये अयुतसिद्धि के अभाव में सामान्य की द्रव्यादिक में वृत्ति संभवित नहीं होती है। यदि च-सामान्य की वृत्ति द्रव्यादिकों के साथ मानली भी जाय तो उसमें दो विकल्प उठते हैं-और वे इस प्रकार हैं-सामान्य द्रव्यादिकों में कृत्स्नरूप से रहता है या अंश रूप से। देश, काल एवं आकार से भिन्न व्यक्तियों में अंश कल्पना से रहित कृत्स्नरूप सामान्य की युगपद्वृत्ति साधयितुं शक्य नहीं हो सकती है। कारण कि इससे अनेक सामान्यों की मान्यता का प्रसंग आता है। एक तथा अनंश रूप सामान्य का देशादि से भिन्न उन सबके साथ युगपत् योग नहीं बन सकता। यदि इस "सामान्यं युगपत् भिन्नदेश-काल व्यक्ति सम्बन्धि-सर्वगतनित्यामूर्तत्वादाकाशवत्" "आकाश की तरह सामान्य युगपत् भिन्न देश भिन्न काल वाली व्यक्तियों के साथ सम्बन्धित होता है, क्योंकि वह सर्वगत नित्य एवं अमूर्तिक है" अनुमान द्वारा सामान्य को भिन्नदेशादि वाली व्यक्तियों के साथ युगपत् सम्बन्धित सिद्ध किया जाय तो यह

अनुमान भी ठीक नहीं है। कारण कि "साधनस्येष्टविघातिकारित्वात्" इस अनुमान का साधन इष्ट का विघातक है—और वह इस प्रकार से है—जिस प्रकार यह हेतु सामान्य में युगपत् भिन्नदेश एवं भिन्नकाल के व्यक्तियों के साथ सम्बन्धित्व सिद्ध करता है उसी प्रकार आकाश की तरह उसमें सांशता भी सिद्ध करता है। कारण कि सामान्य के निरंश मानने पर उसका एक परमाणु की तरह युगपत् सर्वगतत्व विरुद्ध पड़ता है।

शंका—जिस प्रकार परमाणु निरंश है—उसी प्रकार आकाश भी निरंश है। क्योंकि यह अकार्यद्रव्य है। जो अकार्य द्रव्य होता है वह निरंश होता है; जैसे परमाणु। जो सांश होता है वह कार्य द्रव्य होता है, जैसे पटादिक। अकार्य द्रव्य आकाश है इसलिये वह निरंश ही है। इसी प्रकार सामान्य भी अकार्य द्रव्य है। अतः वह भी निरंश है। इस प्रकार इस अनुमान से सामान्य में निरंशता प्रसिद्ध होने से सर्वगतत्वादि हेतु इष्ट विघातक नहीं है। प्रत्युत स्वेष्ट साध्य को सिद्ध करने वाला ही है।

उत्तर—सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि इस "अकार्य द्रव्यत्वात्" हेतु से जो आकाश में निरंशता साध्य की गई है सो क्या उसके आरम्भ के अभाव से वहां निरंशता साध्य की गई है? यदि यह कहा जाय कि आकाश का कोई आरम्भक अवयव नहीं है इसलिये वहां निरंशता साध्य की गई है सो इस कथन में—प्रथम विकल्प में सिद्ध को ही साध्य कोटि में लाने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है। यह तो हम

पहिले से ही स्वीकार करते हैं कि आकाश का आरम्भक कोई अवयव नहीं है। अतः उसमें निरवयवता तो सिद्ध है ही। यदि यह निरवयवता ही निरंशता है तो इसमें कोई मत भेद नहीं है। यदि स्वात्मभूत प्रदेश का अभाव निरंशता है तो इस विकल्प में—मान्यता में—परमाणु रूप दृष्टान्त साध्यशून्य ठहरता है। क्योंकि परमाणु में स्वात्मभूत एक प्रदेश होने से सांशता व्यवस्थित है। दूसरे हम स्याद्वादियों के मतानुसार साधन शून्यता भी दृष्टान्त में आती है। कारण कि परमाणु में (एकान्त रूप से) अकार्यद्रव्यता सिद्ध नहीं है। कार्य द्रव्यता है।

प्रश्न—यह भी एक बड़ी विलक्षण बात है—जो आप परमाणु में कार्य द्रव्यता का कथन करते हैं। परमाणु तो आकाश की तरह अकार्य द्रव्य है। क्योंकि इसका आरम्भक कोई भी द्रव्य नहीं है। तथा च—"अकार्यद्रव्यं परमाणुरारम्भक-रहितत्वात् आकाशवत्" असिद्ध है। "आरम्भकरहितत्वात्" इसका मतलब क्या है? उत्पादक कारण से रहित होना ही क्या आरम्भक–रहितपने का अर्थ है? यदि यही अर्थ है तो परमाणु की द्व्यणुक के विनाश से उत्पत्ति कैसे सिद्ध हो सकती है? यदि इस पर यों कहा जाय कि द्व्यणुक विनाश परमाणु का उत्पादक नहीं है; क्योंकि यदि द्व्यणुक विनाश परमाणु का उत्पादक होता तो द्व्यणुक उत्पाद के पहिले भी जो परमाणु का सद्भाव प्रतीत होता है वह नहीं होना चाहिये। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि द्व्यणुक के उत्पाद होने पर

परमाणु का विनाश हो जाता है--इसलिये उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता। एवं जब तक उसका उत्पाद् नहीं होता तब तक ही परमाणु का सद्भाव प्रतीत होता है। द्वयणुक उत्पत्ति काल में भी यदि परमाणु का विनाश न माना जाय तो उस समय भी उसकी प्रतीति का प्रसंग मानना पड़ेगा। तथा च घट की प्रतीति के समय में भी घट के आरम्भक परमाणुओं की उपलब्धि कैसे वारित हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। यदि इस पर यों कहा जाय कि पट की प्रतीति के समय पट के आरम्भक तन्तु तो साक्षात् प्रतीत होते ही हैं, इस पर तो कुछ कहने की जरूरत है ही नहीं। रही परमाणुओं की प्रतीति की बात--सो तन्तुओं के आरम्भक परमाणु साक्षात् या परम्परा से भी जो उस समय प्रतीत नहीं होते हैं उसका कारण उनमें अस्मदाद्यप्रत्यक्षता है। इसलिये इन्हें अनुमेय माना गया है। अनुमान प्रमाण से ही इनका सद्भाव सिद्ध होता है--वह अनुमान इस प्रकार है--
"द्वयणुकावयवि द्रव्यं स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धं कार्य-द्रव्यत्वात् पटादिवत्यत् द्वयणुकपरिमाणकारणं तौ परमाणू समनुमीयेते" अर्थात् द्वयणुक अवयविरूप द्रव्य अपने परिमाण से अणु परिमाण रूप कारण से आरब्ध--निष्पन्न हुआ है। क्योंकि वह पटादिक की तरह कार्य रूप द्रव्य है। जो द्वयणुक-परिमाण के कारण हैं वे दो परमाणु हैं।" इस प्रकार अनुमान प्रमाण से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है। परमाणु का आरम्भक कारण असम्भव है इसलिये उसके आरम्भक कारण

की सम्भावना ही नहीं होती है। अतः वह कार्य द्रव्य नहीं है। इसलिये आकाशादिक अनंशता साध्य करने में परमाणु का दृष्टान्त साधन से शून्य नहीं ठहरता है। कहने का मतलब यही है-कि परमाणु को कार्यद्रव्य मानने पर आक्षेपक का आक्षेप इस प्रकार है कि जिस प्रकार से पटादि कार्य के उत्पन्न होने पर उसके आरम्भक तन्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है-उस प्रकार परमाणु के आरम्भक कारण न तो साक्षात् ही अनुभवित होते हैं और न परम्परा से ही ज्ञात होते हैं। अतः परमाणु को कार्य द्रव्य मानना ठीक नहीं है। फिर साधन शून्य दृष्टान्त कैसे। सो आक्षेपक का इस प्रकार का आक्षेप भी ठीक नहीं है-क्योंकि अनुमान प्रमाण से परमाणु में कार्य द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। "परमाणवःस्वपरिमाणान्महापरिमाणावयविस्कन्धविनाशकारण-कास्तद्भावभावित्वात् कुम्भविनाशपूर्वककपालवत्" परमाणु अपने परिमाण से महापरिमाणविशिष्ट अवयविरूप स्कन्ध का विनाश जिनका कारण है ऐसे हैं। क्योंकि स्कन्ध विनाश के होने पर ही इनमें भवनशीलता है। जिस प्रकार कपाल की भवनशीलता कुम्भ के विनाश पूर्वक होती है। अतः कपाल कुम्भविनाश का कार्य माना जाता है। जिसके विनाश से परमाणु उत्पन्न होते हैं वह द्रव्य द्व्यणुकादि है। इस प्रकार अनुमान से परमाणु में कार्यद्रव्यत्वसिद्ध होता है। अतः "परमाणुवत्" यह उदाहरण साधनशून्य ही है। परमाणुओं म कार्यद्रव्यत्व सिद्ध करने के लिये जो "तद्भावभावित्वात्" यह हेतु दिया गया है वह असिद्ध

नहीं है क्योंकि परमाणुओं में भवनशीलता द्व्यणुकादि के विनाश होने पर ही स्वीकृत की गई है।

शंका—"तद्भावभावित्वात्" यह हेतु सर्वथा निर्दोष नहीं माना जा सकता, कारण कि इसकी व्याप्ति सर्वत्र लागू नहीं पडती है। यह नियम हम देखते हैं कि जो तन्तु पट भेदपूर्वक उपलब्ध होते हैं उनमें ही लागू पडता है। जो पट पूर्वकाल-भावी हैं उनमें नहीं। इसलिए "तद्भावभावित्वात्" यह हेतु अव्यापक है।

उत्तर—यह हेतु अव्यापक नहीं है। जो तन्तु पटभेद के अभाव के पहिले उपलब्ध हैं उनमें भी तद्भावभावित्व है। यद्यपि ये पटभेदपूर्वक भले ही न हों—तो भी इनमें कपास की पौनी की भेदपूर्वकता है। कपास की पौनी एक स्कन्ध है। जब यह पौनी काती जाती है तो यह उसका कतना ही उसका भेद है। तत्पूर्व-कता तन्तुओं में प्रथित है। अतः "तद्भावभावित्वात्" यह नियम अव्यापक नहीं है।

शंका—महा परिमाण सम्पन्न एवं प्रशिथिल अवयव युक्त जो भारी कपास का पिंड है उससे अल्प परिमाण युक्त एवं घना-वयव सम्पन्न कपास का पिण्ड प्रादुर्भूत देखने में आता है। अब विचारिये यह जो अल्प परिमाणवाला एवं घनावयव विशिष्ट दूसरा कपास पिण्ड प्रादुर्भूत हुआ है वह पूर्व में रहे हुए महा परिमाण वाले एवं अश्लिष्ट अवयव वाले भारी कपास के भेद हुए बिना ही हुआ है। अतः इससे यह बात पुष्ट होती है

कि परमाणु भी स्कन्ध के भेद हुए बिना ही होते हैं । फिर आप परमाणुओं में स्कन्ध भेद पूर्वकता कैसे सिद्ध करते हैं ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है । कारण कि यह नियम परमाणु में ही लागू किया गया है, अन्यत्र नहीं । स्कन्ध भेद-पूर्वक परमाणु ही प्रादुर्भूत होते हैं । भारी कपास–बिखरे हुए–कपास से जो घनात्र्यवविशिष्ट एक गांठ जैसी कपास की पिंडी बन जाती है वह परमाणु थोड़े ही है । वह तो स्कन्ध से स्कन्ध की ही उत्पत्ति हुई है । जो जिसके सद्भाव में भवनशील ही होता है वह उसका कारण होता है, यह स्याद्वादियों का मत है । इसलिये जो स्कन्ध के भेद के ही सद्भाव में उत्पन्न होते हैं वे स्कन्ध–भेद–पूर्वक ही होते हैं जैसे परमाणु । "भेदादणुः" यह परमागम का वचन है । इसका भाव यही है कि अणु स्कन्ध के भेद से ही होते हैं । संघात से, भेद से एवं संघात भेद से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है । अतः परमाणु की उत्पत्ति के कारणों में और स्कन्ध की उत्पत्ति के कारणों में भेद है । इसलिये परमाणु कार्य द्रव्य हैं यह कथन बिल्कुल निर्दोष है । अतः परमाणु रूप उदाहरण साधन विकल होने से एवं हेतु की असिद्धता होने से "आकाशमनंशं अकार्यद्रव्यत्वात् परमाणुवत्" यह अनुमान साध्य की सिद्धि का कारण नहीं हो सकता है । दूसरे–हेतु भी पक्षमें नहीं रहता है । क्योंकि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से आकाश भी कार्यद्रव्य साधित हुआ है । स्याद्वाद सिद्धान्त में ऐसा तो कोई द्रव्य ही नहीं है जो सर्वथा नित्य ही हो । इसी

प्रकार आकाश में सर्वथा अनंशता भी सिद्ध नहीं है। अतः यह "अनंशं सामान्यं सर्वगतत्वात् आकाशवत्" कथन कि सामान्य आकाश की तरह सर्वगत होने से अनंश-अंश रहित है, ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें आकाशरूप उदाहरण अनंश रूप साध्य से शून्य है। इसलिये आकाश को दृष्टान्त कोटि में रखकर जो सामान्य में निरंशता प्रसिद्ध करना चाही है वह उसमें नहीं हो सकती है। सामान्य को अनंश सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त "सवगतत्वात्" यह हेतु असिद्ध है क्योंकि सामान्य पूरा सर्वगत है -यह बात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। यदि इस पर यों कहा जाय कि सत्तारूप महा सामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध ही है-क्योंकि सर्वत्र यह सत्प्रत्यय का हेतु होता है। सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि अनंत व्यक्तियों के आश्रय रूप एक उस सत्ता महा सामान्य को ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है। यही बात "मानं च नानंतसमाश्रयस्य" इस कारिकांश द्वारा प्रकट की गई है। जब तक अनन्त सद्व्यक्तियों का ग्रहण नहीं होता है तब तक उनमें यह सत्ता रूप महा सामान्य सत् प्रत्यय का हेतु है यह कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः अनंत सद्व्यक्तियों के ग्रहण हुए बिना उनमें युगपत् सत्प्रत्यय की उत्पत्ति हम असर्वविदों को संभवित नहीं है। इसके हुए बिना सर्वत्र सत्प्रत्यय की हेतुता सत्ता महा सामान्य में कैसे सिद्ध हो सकती है। इसकी असिद्धि में "सत्तामहासामान्यं सर्वं सर्वगतं सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वात्" सत्ता महा सामान्य अनंत व्यक्तियों में

युगपत् पूरा रहता है यह अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अतः यह जो पहिले कहा गया है कि सामान्य की अनन्त व्यक्तियों में युगपद्वृत्ति मानने से सामान्य में बहुत्व की आपत्ति आती है यह बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार व्यक्ति सर्वगत (एक एक व्यक्ति में सम्पूर्णरूप से रहने वाले) सामान्य की भी सिद्धि तद्ग्राहक प्रमाण के अभाव में नहीं बनती है। इसीसे यह भी समझलेना चाहिये कि सामान्य अनन्त स्वाश्रयों में अंश रूप से रहता है—यह भी मान्यता युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि इसका प्रदर्शक भी कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही सामान्य में सप्रदेशत्व का प्रसंग आता है। परन्तु यह बात आप स्वीकार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इसकी स्वीकृति में सामान्य में अनंशता की स्वीकृति विघटित होती है। इसलिये अमेय रूप एक सामान्य किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है अतः वह अमेय ही है।

नानासदेकात्मसमाश्रयं चे-
दन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोःक्व।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चे-
त्तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५६॥

अन्वय—चेत् नानासदेकात्मसमाश्रयं (सामान्यं अस्ति) (तदा) अद्विष्ठं अन्यत्वं अनात्मनोः (उभयोः सतोः) क्व (स्यात्)। चेत् अवस्तुनः (तस्य) विकल्पशून्यत्वं (तर्हि) अमेये तस्मिन् प्रमाणं क्व खलु (प्रवर्तते)।

अर्थ—यदि (सामान्यवादी यह कहें कि) नाना सत्तों का एक आत्मा-भिन्न २ द्रव्य, गुण और कर्म-जिसके आश्रय हैं ऐसा सामान्य है-युगपत् अनन्तसमाश्रयवाला महासत्तास्वरूप सामान्य नहीं है-किन्तु अपर सत्तास्वरूप सामान्य अपने २ भिन्न २ द्रव्यगुण और कर्म रूप आत्मा में आश्रित है तो इस पर यह उनसे पूछा जाता है कि वह सामान्य अपने व्यक्तियों से भिन्न है या अभिन्न है ? अद्विष्ठ—दो में नहीं रहने वाला—एक में ही रहने वाला—अन्यत्व सामान्य और उसके आश्रयरूप व्यक्ति इन दोनों में अनात्मता—अस्तित्व विहीनता—होने पर कहां रहेगा ? यदि सामान्य को अवस्तुरूप—अन्यापोहस्वरूप—माना जाय और इस हालात में उसे अन्यत्व एवं अनन्यत्वरूप विकल्पों से रिक्त कहा जावे तो उसके अमेय होने पर प्रमाण की प्रवृत्ति कहां होती है ?

भावार्थ—सामान्यवादी का यह कथन कि "अनंत समाश्रयवाले सामान्य की ग्राहक प्रमाण के अभाव होने से भले ही सिद्धि न हो किन्तु व्यक्ति सर्वगत सामान्य की तो सिद्धि होती ही है और वह इस प्रकार से है—द्रव्य, गुण और कर्म ये नाना विविध—सत हैं। इनका जो एक आत्मा—एक स्वभावरूप व्यक्तित्व—जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा—ये सब उस उस सामान्य के आश्रय हैं। सदात्मा सत्तासामान्य का, द्रव्यात्मा द्रव्यत्व सामान्य का, गुणात्मा गुणत्व सामान्य का, कर्मात्मा कर्मत्व सामान्य का आश्रय है। इसलिये सामान्य नाना सदे-

कात्मसमाश्रय है । सत्ता सामान्यका समाश्रयभूत जो एक सदात्मा है वह एक सद्व्यक्ति के प्रतिभासकाल में प्रमाण से प्रतीत होता ही है । इसी प्रकार एक सदात्मा से अन्य द्वितीयादि सद्व्यक्ति के प्रतिपत्ति काल में भी वही सदात्मा अभिव्यक्तता को प्राप्त होता है, इससे यह ज्ञात हो जाता है कि ये सद्व्यक्ति स्वभावतः एक हैं, यही सद्व्यक्ति समाश्रय रूप सत्ता सामान्य के ग्रहण में निमित्त है और यह निमित्त प्रमाणभूत है । अनंत स्वभाव वाले पदार्थों में युगपत् समाश्रय रूप सत्ता महा सामान्य है इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है । अतः वही अमानता है । इस प्रकार एक सदात्मा व्यक्ति के प्रतिपत्तिकाल में सत्ता सामान्य का ग्रहण होता है । द्रव्यत्व सामान्य का समाश्रय एक द्रव्यात्मा है । जिस समय एक द्रव्य व्यक्ति की और उससे भिन्न द्वितीय द्रव्य व्यक्ति की प्रतीति जन करता है उस समय द्रव्य स्वभाव एक ही है यह उसे प्रतीत हो जाता है । यह जो द्रव्य स्वभाव में एकत्व की प्रतीति है वही द्रव्य समाश्रय सामान्य की प्रतीति है । इसी प्रकार दो तीन गुण व्यक्तियों और कर्म व्यक्तियों को देखने वाले व्यक्ति के लिये गुण-स्वभाव एवं कर्म-स्वभाव एक ही है- यह विश्वास हो जाता है । इस तरह गुणैकात्म-समाश्रय रूप अथवा कर्मैकात्म समाश्रयरूप गुणत्व-सामान्य या कर्मत्व सामान्य प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्य है । फिर सामान्य को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं है— इस प्रकार ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव प्रकट कर जो उसमें अप्रमाणता आपादित की है वह उचित नहीं

है। इस प्रकार सदेकात्म समाश्रयतावाले सामान्य का सद्भाव सिद्ध होता है, अनन्तसमाश्रयता वाले सामान्य का नहीं; क्योंकि उसका प्रस्थापक प्रमाण नहीं है-प्रमाण का अभाव है।" चित्त में धारण कर सूत्रकार महाराज उनसे पूछते हैं कि यह सामान्य -व्यक्ति सर्वगत सामान्य-अपने आश्रय रूप व्यक्तियों-सद्व्यक्ति रूप द्रव्य गुणादिकों से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि सदेकस्वभाव के आश्रय रूप सामान्य अपने व्यक्तियों से भिन्न माना जावे तो ऐसी हालत में उन अपने व्यक्तियों में प्रागभावादिक की तरह असत्स्वरूपता की आपत्ति का प्रसंग आता है। जब स्व व्यक्तियों में ही असदात्मकता आजावेगी तो फिर उनमें समाश्रय रूप से रहनेवाले सत्सामान्य में भी असदात्मकता की आपत्ति क्यों नहीं आवेगी ? अवश्य आवेगी। क्योंकि ऐसी दशा में अभाव मात्र की तरह सामान्य असत् व्यक्ति वाला हो जाता है। जब सामान्य के आश्रयभूत व्यक्ति असत् हैं तो उनमें रहने वाला सामान्य भी असत् रूप ही माना जायगा। इस तरह व्यक्ति और व्यक्त्याश्रित सामान्य का जब अस्तित्व ही कायम नहीं हो सकता है, तब वह अन्यता वहां कैसे रहेगी ? यह अन्यता-अन्यत्वगुण अद्विष्ठ है-एक में रहती है। दोनों के अभाव में-व्यक्ति और सामान्य की अस्तित्व हीनता में-एक में ही रहने वाली यह अन्यता अब वहां कैसे रह सकती है ? नहीं रह सकती। दोनों का अस्तित्व हो तब तो वहां अद्विष्ठ अन्यता रहे। परन्तु, पूर्वोक्त रूप से विचार करने पर न व्यक्तियों का

अस्तित्व साबित होता है और न सामान्य का। अतः स्व व्यक्तियों से सामान्य अन्य है यह कल्पना कोरी कल्पना ही है वास्तविक नहीं। इसी प्रकार अपने द्रव्य व्यक्ति से द्रव्य रूप एक आत्मा में समाश्रित द्रव्यत्व सामान्य का भेद मानना गुणादिक की तरह अद्रव्यत्व का प्रसंग कारक होता है। अद्रव्यत्व की प्रसक्ति में द्रव्यत्व सामान्य का अस्तित्व नहीं होने से द्रव्य व्यक्ति और द्रव्यत्व सामान्य का परस्पर में माना हुआ अन्यत्व कहां रहेगा। गुणत्व सामान्य एवं कर्मत्व सामान्य में भी यही बात जान लेनी चाहिये। भिन्नत्व की मान्यता में गुण और गुणत्व, कर्म एवं कर्मत्व इन दोनों का जब स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है-तो तुम्हारा मान्य इन दोनों में भिन्नत्व निराधार कहां रह सकता है। विचारो।

यदि सामान्य अपने व्यक्तियों से अभिन्न है यह द्वितीय विकल्प माना जावे तो यह भी ठीक नहीं। कारण कि इस प्रकार की मान्यता में सामान्य का प्रवेश अपने व्यक्तियों में पूर्णरूप से हो जाता है—सामान्य अपने व्यक्तियों में सर्वथा रूप से प्रविष्ट होने की वजह से स्वयं व्यक्तिरूप होजाता है। ऐसी हालत में व्यक्तियों का ही अस्तित्व माना जावेगा, सामान्य का नहीं। परन्तु अपने सामान्य के अभाव में व्यक्तियों का अस्तित्व बन भी कैसे सकता है। जब अपने व्यक्तियों का अस्तित्व नहीं बनता है तब व्यक्तियों के अस्तित्व के अभाव में सामान्य का स्वतंत्र अस्तित्व कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता। इस प्रकार

व्यक्ति और सामान्य में अनात्मता—अस्तित्व हीनता आने पर द्विष्ठ—दो में रहने वाला यह अनन्यत्व—अभिन्नत्व कहां कहां २ रहेगा ? इस प्रकार व्यक्ति और सामान्य में सर्वथा अन्यत्व एवं सर्वथा अनन्यत्व अनात्मत्व दोष के प्रसंग का प्रख्यापक जब होता है—तब प स्पर निरपेक्ष उभयैकान्त की तो वहां दाल गल ही नहीं सकती है। क्योंकि 'प्रत्येकं भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः' प्रत्येक पक्ष में जो दोष लागू पडता है वही उन दोनों के सम्मिलित पक्ष में भी लागू पडता है। अब यदि यह कहा जाय कि यह दोष सामान्य में वस्तु रूपता की मान्यता होने पर ही आता है, अवस्तु रूपता में नहीं। अन्यापोह रूप सामान्य में खर विषाण की तरह ये अन्यत्व और अनन्यत्व विकल्प उठ ही नहीं सकते हैं, तो इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है। कारण कि जब सामान्य अन्यापोहरूप स्वीकार किया जायगा तो ऐसी स्थिति में वह सर्व प्रमाण से अतिक्रांत होने की वजह से प्रमेय-प्रमाण का अविषय हो जायगा। अतः उसमें किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति इसलिये वहां नहीं हो सकती कि वह वस्तु को विषय करने वाला है। यह अन्यापोह रूप सामान्य अवस्तु रूप है। अनुमान की प्रवृत्ति इसलिये नहीं होती है कि वहां उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है। अवस्तु के निःस्वभाव होने के कारण स्वभाव का एवं सकल कार्यों से शून्य होने के कारण कार्य का अभाव होने से स्वभाव रूप और कार्यरूप लिंग का अस्तित्व घटित नहीं होता है।

अतः स्वभावलिंग एवं कार्यलिंग सामान्य में अन्यापोह रूपता के साधक नहीं हो सकते हैं। यदि स्वभावलिंग या कार्यलिङ्ग उसके सद्भाव-व्यापक माने जावें तो सामान्य में अवस्तुता नहीं मानी जा सकेगी-क्योंकि स्वभाव या कार्य वस्तु के ही होते हैं-अवस्तु के नहीं। अनुपलम्भ रूप लिंग अन्यापोहरूप सामान्य का साधक नहीं बनता है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण को अविषय होने के कारण अमेय हुए इस अन्यापोह रूप सामान्य में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः पराभ्युपगत वस्तुभूत सामान्य की तरह इस सामान्य की भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है। भाव इसका यही है-व्यवस्थापक प्रमाण के अभाव में अन्य सिद्धान्तकारों के यहां किसी भी सामान्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

> व्यावृत्तिहीनान्वयतो न सिद्ध्येद्-
> विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम्।
> अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः
> पराभ्युपेतार्थविरोधवादः ॥ ५७ ॥

अन्वय—व्यावृत्तिहीनान्वयतः, अपि (च) विपर्यये, अद्वितये अपि साध्यं न सिद्ध्येत्। अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः पराभ्युपेतार्थविरोधवादः (प्रसज्येत)।

अर्थ—असत् आदि की व्यावृत्ति से हीन अन्वय मात्र से, अथवा विपरीत में-अन्वयहीन व्यावृत्ति मात्र से एवं अद्वितय

में—इन दोनों प्रकारों से हीन सन्मात्र प्रतिभास से सत्ता सामान्य रूप साध्य की सिद्धि नहीं होती है। यदि साध्य साधन भाव को बनाने के लिये असाध्य व्यावृत्ति से साध्य एवं असाधन व्यावृत्ति से साधन इस प्रकार साध्य साधन भाव रूप अतद्व्यावृत्त्यासाभिनिवेशवाद स्वीकार किया जाय तो इसमें पराभ्युपेतार्थ—पूर्वाभ्युपेतार्थ के विरोधवाद का प्रसंग आता है।

भावार्थ—अनुवृत्तिप्रत्यय रूप लिङ्ग से सामान्य की सिद्धि होती है—फिर इसे आप अप्रमाण—प्रमाणरहित कैसे कहते हैं? तथा अतद्व्यावृत्ति रूप प्रत्यय से अन्यापोह रूप सामान्य साध्य होता है फिर यह अमेय कैसे हो सकता है? एवं सन्मात्र ही तत्त्व है और वह स्वसंवेदन मात्र से साध्य है, इस प्रकार की इन तीन आशंकाओं का उत्तर सूत्रकार ने इस कारिका में दिया है। उत्तर देते हुए वे यह कह रहे हैं कि यदि वह मान्यता एकान्तरूप में स्वीकार की जाय कि सत्तारूप पर सामान्य एवं द्रव्यत्वादि रूप अपर सामान्य "सत् सत्" इत्याकारक अनुवृत्ति प्रत्यय से —"सत् सत्" इस प्रकार के सत्तादिरूप अन्वय से—सिद्ध होता है सो यह कहना उचित नहीं है—उस प्रत्यय से वह सिद्ध नहीं हो सकता है—कारण कि वह अपने विपक्ष की व्यावृत्ति से सर्वथा हीन है। सत्ता का विपक्ष असत्ता और द्रव्यत्वादिक का विपक्ष अद्रव्यत्व आदि हैं। यदि सत्तादिरूप अन्वय जो अपने विपक्ष की व्यावृत्ति से हीन है, पर और अपर सामान्य का साधक बनता है—तो इससे केवल उन्हीं की सिद्धि होगी—यह नहीं कहा

जा सकता कारण कि इस स्थिति में "सदसतोः संकरेण सिद्धि-प्रसंगात्" सत्ता और असत्ता (आदि) का परस्पर में संकर होने से उनकी सिद्धि का प्रसंग आता है । यदि सत्तादिरूप अन्वय में यह कहकर कि "सदन्वय (सत्तादिरूप अन्वय) ही असत् की व्यावृत्ति है" इस प्रकार विपक्ष की व्यावृत्ति प्रकट की जाय सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । कारण कि इस प्रकार के कथन से अनुवृत्ति और व्यावृत्ति में भेद का अभाव प्रतिपादित होता है । परन्तु ऐसा तो है नहीं—क्योंकि अनुवृत्ति भाव स्वरूप होती है और व्यावृत्ति अभाव स्वरूप होती है । इस अपेक्षा से इन दोनों में भेद स्वीकृत किया गया है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदन्वय में सामर्थ्य से असत् की व्यावृत्ति सिद्ध ही हो जाती है । कारण कि इस प्रकार के कथन से "व्यावृत्ति हीन अन्वय से ही सत्तादि सामान्य की सिद्धि होती है" यह कहना ठीक नहीं बनता । इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिये कि द्रव्यत्वादिकरूप अपर सामान्य अद्रव्या-दिक की व्यावृत्ति से हीन होकर "द्रव्य द्रव्य" इत्यादि अन्वय के बल स सिद्ध नहीं होता है । अतः यह मानना चाहिये कि द्रव्यत्वादि रूप अपर सामान्य, सामर्थ्यसिद्ध अद्रव्यत्वादिक की व्यावृत्ति से सहित ऐसे द्रव्यादिक रूप अन्वय प्रत्यय से ही साध्य होता है । इसीलिये द्रव्यत्वादिक सामान्य में "सामान्य विशेष" इस नाम की व्यवस्था होती है । मतलब इसका यह कि "द्रव्यत्व" यह "द्रव्य द्रव्य" इत्यादि अन्वय प्रत्यय का जनक

है इसलिये तो सामान्य रूप है, साथ में इसमें जो अन्य-अद्रव्यत्वादिक की व्यावृत्ति रही हुई है वही विशेष धर्म है। क्योंकि यह द्रव्यत्वादि सामान्य अन्य अद्रव्यत्वादिक से अपनी व्यावृत्ति कराता है-अतः यह अद्रव्यत्वादि की व्यावृत्ति ही विशेष धर्म है और यह उससे सहित है। इसलिये द्रव्यत्वादि सामान्य सामान्य विशेष इस नाम को पाता है।

तथा जो इस बात को मानते हैं कि अन्वयहीन अन्य व्यावृत्ति से ही सामान्य की प्रतीति होती है सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है-पूर्वोक्त इस विपरीत कल्पना से भी सामान्य की सिद्धि नहीं होती है। यद्यपि अन्वय रहित अन्य व्यावृत्ति प्रत्यय से अन्यापोह की सिद्धि होती है तो भी उसकी विधि की असिद्धि होने से वहां प्रवृत्ति का विरोध आता है। प्रवृत्ति के विरोध का कारण भी यही है कि अन्यापोह से अर्थ क्रिया लक्षण रूप साध्य की सिद्धि नहीं होती है यदि अन्यापोह रूप सामान्य से अर्थ क्रिया लक्षण रूप साध्य की सिद्धि होने के लिये यह कहा जाय कि दृश्य और विकल्प के एकत्वाध्यवसाय से प्रवृत्ति होने पर अर्थ क्रिया रूप साध्य की सिद्धि हो जाती है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि अर्थ क्रिया साधक जो दृश्य और विकल्प्य का एकत्व अध्यवसाय है वह बनता ही नहीं है। दृश्य और विकल्प्य के एकत्व अध्यवसाय का निश्चायक भी कौन है? प्रत्यक्ष तो इन दोनों का एकत्वाध्यवसायक हो नहीं सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय दृश्य है। विकल्प्य

उसका विषय नहीं है। वह तो सामान्य का है। यदि प्रत्यक्ष के पश्चाद्भावी सामान्य इन दोनों के एकत्व का अध्यवसायक है ऐसा कहा जाय, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह दृश्य को विषय नहीं कर सकता। अतः भिन्न-भिन्न प्रमाण के विषयभूत इन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय करने वाला प्रमाणान्तर बौद्धों को संमत नहीं है और न उसकी कोई संभावना ही है।

अतः यह मानना चाहिये कि दृश्य और विकल्प्य में एकत्व का अध्यवसाय करने वाले इस अन्वयहीन अन्य व्यावृत्ति मात्र से अन्यापोह रूप सामान्य की सिद्धि नहीं होती है।

इसी तरह अन्वय और व्यावृत्ति इन दोनों से हीन जो अद्वितय हेतु है कि जिसमें वादी सन्मात्र का ही प्रतिभास मानता है उससे भी सत्ताद्वैत रूप सामान्य की सिद्धि नहीं होती है। कारण कि सर्वथा अद्वितय—अद्वैत में साध्य और साधन की भेद सिद्धि नहीं बनती है। जब वहाँ भेद सिद्धि ही असिद्ध है तो कौन तो यहां साधन होगा और कौन साध्य होगा? यह विचार करने जैसी बात है! और इस हालत में फिर किस साधन से साध्य की सिद्धि मानी जावेगी? साध्य साधन की सिद्धि में अद्वितय—अद्वैत का विरोध आता है। कारण कि यह साध्य है, यह साधन है इस प्रकार से द्वैत का ही सद्भाव सिद्ध होता है। अद्वितय को संवित्ति के रूप में मान कर भी यदि ऐसा कहा जाय कि असाधन की

व्यावृत्ति से साधन और असाध्य की व्यावृत्ति से साध्य इस प्रकार साध्यसाधनभाव का सद्भाव बन जाता है और यही अतद्व्यावृत्तिाभिनिवेशवाद है तो इस प्रकार के कथन में बौद्धों को पराभ्युपेतार्थ के विरोधवाद का प्रसंग आता है । संविदद्वैत-लक्षण—ज्ञानाद्वैतवादरूप—अर्थ बौद्धों को संमत है वही यहां परा-भ्युपगत—पूर्वाभ्युगत—है । यह पराभ्युगत अर्थ अतद्व्यावृत्ति मात्र आग्रह वचन रूप अतद्व्यावृत्ताभिनिवेशवाद से विरुद्ध पडता है । क्योंकि किसी असाधन एवं असाध्य की अर्थ—साध्य साधनरूप वास्तविक अर्थ —के अभाव में व्यावृत्ति मात्र से साध्य साधनभाव रूप व्यवहार थोड़े ही बन सकता है । यदि साध्य साधनभावरूप व्यवहार का सद्भाव माना जायगा तो फिर द्वैत की सिद्धि प्रतिक्षेप के लायक नहीं बनती है । इस प्रकार सौगतों के यहां पूर्वाभ्युपेतार्थ के साथ इस मान्यता के विरोधवाद का प्रसंग आता ही है ।

अनात्मनानात्मगतेरयुक्तिः
वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः ।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः
न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः ॥ ५८ ॥

अन्वय—अनात्मना अनात्मगतेः अयुक्तिः । यदि (परः) वस्तुनि अयुक्तेः पक्षसिद्धिः (इति मन्येत),(तदापि) अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः (स्यात्) साधनरिक्तसिद्धिः स्वयं न च (युज्यते) ।

अर्थ–अनात्म–निःस्वभाव –काल्पनिक–असाधन की व्यावृत्ति-स्वरूप ऐसे साधन से निःस्वभाव–काल्पनिक–असाध्य की व्यावृत्तिस्वरूप साध्य की गति –प्रतिपत्ति सर्वथा अयुक्त ही है। यदि संवेदनाद्वैतवादी यह माने कि वस्तु–संवेदनाद्वैत–में अनात्म साधन से अनात्म साध्य की प्रतिपत्ति की अयुक्ति है–इससे–इस कारण से–हमारे पक्ष की–संवेदनाद्वैत रूप पक्ष की सिद्धि हो जाती है। सो इस प्रकार की मान्यता में अवस्तु में–विकल्पिताकार में साध्य-साधन की अयुक्ति से प्रतिपक्ष रूप द्वैत की भी सिद्धि हो जायगी। साधन से रिक्त साध्य की स्वतः सिद्धि मानना युक्ति-युक्त नहीं मानी गई है।

भावार्थ—इस कारिका में इस आशङ्का का परिहार किया गया है जो संवेदनाद्वैतवादियों ने इस प्रकार कही है–वे कहते हैं कि संवेदनाद्वैत की मान्यता में साध्य-साधन भाव की मान्यता उसके साथ विरोधवाद की प्रासंगिका नहीं होती है। कारण कि यहां साध्य साधनभाव सब अनात्मक–अवास्तविक ही है। बौद्धों ने जो इस मान्यता के पक्षपाती हैं उन्होंने–तो साधन वास्तविक माना ही नहीं है। साध्य को भी संवृत्ति से कल्पित आकारवाला माना है। अतः काल्पनिक साध्यसाधन भाव में पूर्वाभ्युपेतार्थ विरोधवाद कैसे हो सकता है। सो इस पर सूत्रकार का यह समाधान है कि जब साधन निःस्वभाव–सांवृत-स्वरूप है तो उसके द्वारा तथाविध साध्य की प्रतिपत्ति बनती ही नहीं है। इस पर यदि यों कहा जाय कि जब साध्य साधन

-भाव नहीं बनता है तो फिर संवेदनाद्वैत रूप तत्त्व की सिद्धि ही क्यों न मानली जाय सो इस पर ग्रन्थकार का यह समाधान है कि विकल्पितप्रकार में भी साध्य साधन की अघटना होने से द्वैत की भी सिद्धि क्यों न हो जायगी—अवश्य होगी। साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं होता है। यह सर्व मान्य सिद्धान्त है। यदि साधन से रिक्त भी संवेदनाद्वैत का अस्तित्व स्वतः मानने में आवे तो फिर इस प्रकार से पुरुषाद्वैत की भी स्वतः सिद्धि माननी पड़ेगी। फिर इसमें किसी को भी विवाद नहीं करना चाहिये। तदेवम्—

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयानभिज्ञैः।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः॥५६॥

अन्वय—यैः वैतण्डिकैः कुसृतिः प्रणीता। मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः निर्भेदभयानभिज्ञैः तैः स्वमूर्ध्नि परघ्नः परशुः निशायितः।

अर्थ—परपक्ष में दूषण देने में ही प्रधान बने हुए जिन वैतण्डिकों ने—संवेदनाद्वैतवादियों ने—कुत्सित प्रतीति—न्याय का प्रणयन किया है। हे नाथ! आपके अनेकान्त रूप स्याद्वाद शासन की दृष्टि—प्रक्रिया—में मूढ एवं अपने मस्तक के भिदजाने के भय से अनभिज्ञ बने हुए उन संवेदनाद्वैतवादियों ने पर घातक कुल्हाड़े को अपने ही मस्तक पर मारा है।

भावार्थ—जिस प्रकार दूसरों को मारने के लिये उठाया गया कुल्हाडा—शस्त्र—उठाने वाले के मस्तक पर जब गिर पड़ता है तो वह उसके मस्तक को भी विदारित कर देता है फिर भी वह उठानेवाला तज्जन्य अपने घात के भय से अनभिज्ञ ही कहा जाता है उसी प्रकार पर के पक्ष का निराकरण करने के लिये इन वैतण्डिकों ने जिस न्याय का प्रणयन किया है वही न्याय स्वयं इनके भी अपने पक्ष का घातक—निराकरण करनेवाला—होता है, इसलिये ये भी स्वपक्ष के घात से अनभिज्ञ ही कहे गये हैं। इनका अन्तःकरण दर्शन मोहनीय के उदय से आक्रान्त है। इसलिये स्याद्वाद सिद्धान्त के नायक वीतराग गुरु के शासन की दृष्टि में ये प्रमूढ बने हुए हैं अतः कुछ भी नहीं जानते हैं।

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो,
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च,
वस्तुव्यवस्थांगममेयतत्त्वम् ॥६०॥

अन्वय—अर्हतः ते अभावः अपि वस्तुधर्मः भवति। (सः) भाववत् भावान्तरं (अस्ति)। (सः) प्रमीयते च व्यपदिश्यते च। (स) वस्तुव्यवस्थांगम्। (वस्तु न वस्तु व्यवस्थांगमभावतत्त्वं भावैकान्तवत्तत्) अमेयतत्त्वम् ॥

अर्थ—हे अर्हन्! आपके यहां अभाव भी वस्तु का धर्म

है और वह भाव की तरह भावान्तर स्वरूप है । वह अभाव प्रमाण से जाना जाता है एवं व्यपदिष्ट भी होता है । अभाव वस्तु की व्यवस्था का कारण माना गया है । जो अभाव तत्त्व वस्तु व्यवस्था का कारण नहीं है वह भावैकान्त तत्त्व की तरह अमेय ही है ।

भावार्थ—सूत्रकार इस कारिका द्वारा "साधन के बिना जब स्वयं साध्य की सिद्धि नहीं होती है तब संविदद्वैत की भी सिद्धि मत होओ, परन्तु विचार बल से प्राप्त शून्यता लक्षण वाले सर्वाभाव का तो परिहार किया नहीं जा सकता है । अतः वही मानना चाहिये, सो इस प्रकार शून्यवादी माध्यमिक का कथन ठीक नहीं है" यह बात प्रदर्शित कर रहे हैं । वे कहते हैं कि जब अन्तस्तत्त्व ज्ञानादिक एवं बहिस्तत्त्व घट पटादिक किसी भी रूप से नहीं हैं-संभावित ही नहीं होते हैं तब उनका सर्व शून्यता रूप अभाव भी संभवित नहीं हो सकता है । क्योंकि अभाव स्वयं वस्तु का धर्म है । धर्मी के असम्भव होने पर किसी भी धर्म की प्रतीति नहीं होती है । जब अभावरूप धर्म की प्रतीति है-तो इससे यह मानना चाहिये कि इसका जो धर्मी है वह भी है । अतः सर्वशून्यता का आपादन करना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है । दूसरे-अभाव का स्वरूप से अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो अभाव में भी वस्तुधर्मत्व की सिद्धि होती है । क्योंकि स्वरूप का नाम ही वस्तु धर्म है । वस्तु अनेक धर्मवाली है । इन अनेक धर्मों में से एक धर्म का अभाव तुच्छाभाव रूप न

होकर अन्य धर्म स्वरूप होता है। अतः वह धर्मान्तररूप अभाव वस्तु का धर्म कैसे सिद्ध नहीं होता है, अवश्य होता ही है। यदि वह अभाव, स्वरूप से भी नहीं है तो वह अभाव ही नहीं हो सकता। क्योंकि जब अभाव का स्वरूप से भी अभाव है तो अभाव के अभाव में भाव का विधान स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस अपेक्षा से सर्वशून्यता की मान्यता का विघटन भी अपने आप हो जाता है। यदि "अभाव धर्मी का है" ऐसा माना जावे तो वह अभाव भाव की तरह भावान्तर रूप होता है। कुम्भ का अभाव भावान्तर रूप भूभागस्वरूप पड़ता है। ऐसा हे वीर अर्हन्! आपका सिद्धान्त है। अभाव को जैन सिद्धान्त में सर्व-शक्ति विरह रूप तुच्छाभावस्वरूप नहीं माना है। यह मान्यता तो यौगों की ही है। यदि अभाव सर्वशक्ति विरह रूप सर्वथा तुच्छाभावस्वरूप ही माना जाय तो वह न तो प्रमेय हो सकता न व्यपदिष्ट हो सकता है और न वस्तु की व्यवस्था का कारण हो सकता है। परन्तु ऐसा तो है नहीं- वह तो प्रमाण का विषय, व्यपदिष्ट एवं वस्तु व्यवस्था का कारण होता है। धर्म का अभाव अथवा धर्मी का अभाव यदि किसी प्रमाण से प्रमित नहीं होता है तो उसकी व्यवस्था कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती है। यदि वह प्रमाण का विषय होता है तो वह धर्म का होने से धर्मान्तररूप, धर्मी का होने से भावान्तर रूप मानना ही पड़ेगा। अभाव यदि व्यपदिष्ट नहीं होता है ऐसा माना जाय तो वह जाना कैसे जा सकता है यह आक्षेप होता है।

यदि वह जाना जाता है तो या तो वह वस्तु का धर्म ठहरता है या वस्त्वन्तर रूप पड़ता है—नहीं तो उसका व्यपदेश ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार अभाव यदि वस्तु व्यवस्था में अङ्गरूप नहीं होता तो उसकी कल्पना से फायदा ही क्या है? देखो अभाव वस्तु व्यवस्था में "घट में पटादिक का अभाव है" इस रूप से पटादिक के परिहार से कारण कल्पित किया गया है। अन्यथा वस्तु में संकरदोष के आने का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः अभाव वस्तु व्यवस्था का कारण है यह मानना चाहिये। इसलिये "वस्तु धर्म एवाभावो वस्तुव्यवस्थांगत्वात् भाववत्" भाव की तरह अभाव वस्तु-व्यवस्था का अङ्ग होने से वस्तु का धर्म ही है।

शङ्का—यह आप कैसे कहते हैं कि "वस्तु-व्यवस्था का अङ्ग होने से अभाव वस्तु का धर्म है" कारण कि प्रमाण भी वस्तु की व्यवस्था का कारण है परन्तु वह तो वस्तु-प्रमेय का धर्म नहीं माना गया है। इसी प्रकार वस्तु व्यवस्था का अङ्ग होने पर भी अभाव वस्तु का धर्म नहीं हो सकता है। जो जिसकी व्यवस्था का कारण होता है वह उसका धर्म होता है इस प्रकार का नियम नहीं बन सकता है। कारण कि इस प्रकार के नियम में व्यभिचार देखा जाता है। अभाव की व्यवस्था का कारण घटादि रूप भावपदार्थ भी हैं, तो क्या इतने मात्र से वे उसके धर्म थोड़े ही होजाते हैं?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। प्रमाण में भी प्रमेयत्व

धर्म का अविरोध है । वह इस प्रकार—अवि-संवादक ज्ञान ही प्रमाण माना गया है । यह प्रमाण जिस समय करण साधन में व्युत्पादित होता है—उस समय "प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा भी प्रमाण के द्वारा जाना जाता है अतः आत्मा में प्रमेयता आने से, ज्ञान—प्रमाण—जो आत्मा का धर्म है उसमें प्रमेयत्व धर्म आता हुआ प्रतीत ही है । इसी तरह "प्रमितिः प्रमाणम्" इस भाव साधन रूप व्युत्पत्ति से भी प्रमाण में आत्मा रूप अर्थ की धर्मता सिद्ध होती है । इसी तरह घटादिभाव में भी अभाव का धर्मत्व विरुद्ध नहीं पड़ता है । "मृदोःघटः" इस प्रत्यय से जैसे घट में मृद्धर्मता आती है, उसी तरह उसी घट में "सुवर्णादिक के अभाव विशिष्ट मृद की भी धर्मता है । क्योंकि सुवर्णादि का अभाव ही असुवर्णरूप—मृदादिस्वरूप—पड़ता है । तद्धर्मता घट में है । अतः व्यभिचार नहीं आ सकता है । देखो जब तुम स्वयं "हेतु का विपक्ष में सम्पूर्ण रूप से अभाव हेतु का धर्म है" यह बात स्वीकार कर रहे हो तो फिर वह अभाव हेतु लक्षणरूप—वस्तु की व्यवस्था का अङ्ग होकर उसका धर्म क्यों नहीं माना जायगा ? अवश्य ही माना जायगा । अतः गत्यन्तराभावात् अभाव वस्तु की व्यवस्था का अङ्ग है और इसीलिये भाव की तरह वह वस्तु का धर्म है यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये । जो अभाव—तुच्छाभाव रूप सर्व-शून्यता—वस्तु की व्यवस्था का कारण नहीं होता है, वह भावैकान्त तत्त्व की तरह अमेय—अप्रमेय—ही है—

सकल-प्रमाणगोचरातिक्रान्त है । इस तरह दूसरों के द्वारा कल्पित वस्तु रूप अथवा अवस्तु रूप सामान्य जिस प्रकार वाक्य का अर्थ नहीं बनता उसी तरह व्यक्तिमात्र, परस्पर निरपेक्ष उभयरूप सामान्य भी वाक्य का अर्थ नहीं बनता है। क्योंकि वह इस रूप में सर्व प्रमाणों से अतिक्रान्त हो जाता है।

विशेषसामान्यविषक्तभेद-,
विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्,
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६१॥

अन्वय—ते वाक्यं विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायि (भवति) अभेदबुद्धेः अविशिष्टता च व्यावृत्तबुद्धेः विशिष्टता स्यात् ।

अर्थ—हे नाथ ! आपके अनेकान्त शासन में वाक्य विसदृश परिणामस्वरूप विशेष एवं सदृशपरिणामस्वरूप सामान्य से युक्त द्रव्यपर्याय व्यक्ति रूप भेदों की विधि और उनके व्यवच्छेद का विधायक होता है (ऐसा माना गया है) । अभेद बुद्धि से द्रव्य में (जिस प्रकार) अविशिष्टता—समानता प्रतीत होती है (उसी प्रकार) व्यावृत्ति बुद्धि से उसी में विशिष्टता—विशेषात्मकता भी प्रतीत होती है ।

भावार्थ—सूत्रकार इस कारिका द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि अनेकान्त शासन में वाक्य द्रव्य एवं पर्यायों में सामान्य और विशेष इन दोनों का व्यवस्थापक माना गया है । केवल

विशेष या केवल सामान्य का ही नहीं। हमें यह बात स्पष्ट प्रतीति में आती है कि जिस समय "घट लाओ" इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उस समय जिस प्रकार घट के आनयन का विधान इस वाक्य द्वारा होता है—उसी प्रकार घट से भिन्न अन्य अघट आदि के आनयन का व्यवच्छेद का भी विधान इसी वाक्य द्वारा होता है। अथवा "घट लाओ" यह वाक्य केवल घटानयन के व्यवच्छेद मात्र का विधायक ही नहीं होता है, किन्तु साथ में घटानयन की विधि का भी विधायक होता है। यदि ऐसा न होता तो घटानयन के विधान के लिये अन्य वाक्य के प्रयोग के प्रसंग रूप आपत्ति आती है। जो प्रयोग घटानयन के लिये प्रयुक्त किया जायगा वह भी अतद्व्यावृत्ति के ही व्यवच्छेद मात्र का विधायक होगा, इस प्रकार घट के आनयन की विधि के लिये अन्य दूसरे वाक्य का प्रयोग करने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार अनवस्था दोष के अनुषंग से घटानयन की विधि की प्रतिपत्ति कभी हो ही नहीं सकेगी। इसलिये प्रधान-भाव से व्यवच्छेद का विधान करनेवाला भी वाक्य गुणभाव (गौणरूप) से विधि का विधायक होता है ऐसा मानना चाहिये। यह भी कहना सर्वथा अयुक्त है कि वाक्य मात्र विधि का ही विधायक होता है। क्योंकि जब तक अन्य का व्यवच्छेद नहीं होगा—तब तक उससे विधि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। प्रकृत विधि का प्रतिपत्ति के लिये अन्य के व्यवच्छेदक का

विधायक यदि दूसरा वाक्य प्रयुक्त होगा तो इसे भी विधि मात्र का विधायक होने पर अतद्व्यवच्छेद के लिये वाक्यान्तर के प्रयोग से अनवस्थिति का प्रसंग आवेगा ही। इसलिये प्रधान भाव से विधि का ही प्रतिपादक वाक्य गौणरूप से व्यवच्छेद का भी विधायक होता है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी जो यह कहते हैं कि वाक्य प्रधान और गौणरूप से सामान्य रूप जाति की ही विधि और उसके व्यवच्छेद इन दोनों का विधायक होता है-जब "घट लाओ" ऐसा कहा जाता है तब इस वाक्य से घट के आनन सामान्य का विधान होता है एवं इसके प्रतिपक्ष भूत अघट अनानयनादि सामान्य का व्यवच्छेद भी होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है-कारण कि यह कथन युक्तिशून्य है। युक्तिशून्य होने का कारण भी यही है कि वाक्य केवल सामान्य की ही विधि और उसके व्यवच्छेद का विधायक होता हो सो ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। वह भेद-विशेष-की विधि और उसके व्यवच्छेद का विधायक भी तो होता है। यही बात "भेदविधिव्यवच्छेद विधायि" इस पद द्वारा सूत्रकार ने प्रदर्शित की है। भेद शब्द का अर्थ व्यक्ति है। वे व्यक्तियां द्रव्य, गुण और कर्म रूप यहां गृहीत हुई हैं। इनमें वाक्य द्रव्य एवं गुण की विधि एवं उनके व्यवच्छेद का गौणरूप से, तथा क्रिया-कर्म की विधि एवं व्यवच्छेद का मुख्य रूप से विधायक होता है यह बात प्रतीत है। अतः वाक्य जाति की ही विधि और व्यवच्छेद का विधायक

होता है यह एकान्त नियम नहीं सध सकता है । इसी प्रकार सन्मात्र सामान्य का ही विधायक वाक्य होता है यह कथन भी ठीक नहीं पडता है; क्योंकि वाक्य से सद्विशेष का भी विधान प्रतीत होता है। और भी जो यही सिर्फ मानते हैं कि वाक्य भेद की विधि और व्यवच्छेद का विधान करता है सो उनकी इस मान्यता का निराकरण "सामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेद-विधायि" इस पद से होता है। क्योंकि वह सामान्य से विषक्त भेद की भी विधि और व्यवच्छेद का विधायक माना गया है सिर्फ भेद की ही विधि और व्यवच्छेद का विधायक नहीं । इसीलिये वाक्य में सदृश परिणाम रूप सामान्य से विशिष्ट द्रव्य गुण एवं क्रिया रूप भेद की विधि और व्यवच्छेद का विधात्मकता होने पर उसका संकेत काल से लगाकर व्यवहार काल तक अन्वय रहता है। नहीं तो नहीं रह सकता । कारण कि संकेतकाल प्रयुक्त वाक्य अपने भेद की विधि एवं व्यवच्छेद का विधायक हो करके नष्ट हो जायगा और वह भेद भी कि जिसमें विधि और व्यवच्छेद का विधान हुआ है नष्ट हो जायगा । फिर व्यवहार काल तक भेद की विधि एवं व्यवच्छेद का विधान उसमें उस वाक्य से कैसे हो सकेगा—परन्तु होता है अतः यह मानना चाहिये कि वाक्य सदृश परिणमन रूप सामान्य विशिष्ट भेद की विधि और व्यवच्छेद का विधायक होता है । इसी प्रकार सामान्य विशिष्ट भेद की ही विधि एवं व्यवच्छेद का विधायक वाक्य होता है" यह विचार भी स्वरुचि से ही विरचित

है। कारण कि वाक्य "विशेषसामान्यविषयकभेदविधिव्यवच्छेदविधायि" इस पदके अनुसार जिस प्रकार सादृश्यसामान्य विशिष्ट भेद की विधि और व्यवच्छेद का विधायक माना जाता है उसी प्रकार वह विसदृश परिणमनस्वरूप विशेष से विशिष्ट भेद की भी विधि एवं उसके व्यवच्छेद का विधायक होता है। इस प्रकार की प्रतीति प्रत्येक विपश्चिज्जन के लिये आश्रयणीय होने से अबाधित है। अभेद बुद्धि से—समानबुद्धि से—द्रव्यादि-व्यक्ति रूप भेद की अविशिष्टता-समानता-ज्ञात होती है। "यह उसके समान है, वह इसके समान है" इस प्रकार की अभेद-बुद्धि—समानबुद्धि सदृश परिणामात्मक सामान्य के बिना अनुप-पद्यमान होती हुई सामान्य की ही साधक होती है। यदि इस पर इस प्रकार कहा जाय कि "यह उसके समान है वह इसके समान है" यह जो समान बुद्धि होती है वह तो एक सामान्य के योग से होती है, सदृश परिणमन रूप समान परिणाम के योग से नहीं। सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। कारण कि यदि इस बुद्धि के होने का हेतु एक सामान्य हो तो "यह उसके समान है वह इसके समान है" ऐसी बुद्धि न होकर यह द्रव्यादि व्यक्ति सामान्यवाला है ऐसी ही बुद्धि होनी चाहिये। यदि इस पर यह समाधान दिया जाय कि यद्यपि सामान्य और सामान्य वालों में भेद है परन्तु उन दोनों में अभेद के उपचार से "यह उसके समान है वह इसके समान है" इस प्रकार की समानबुद्धि हो जाती है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि

भेद में अभेद के उपचार से सामान्य वालों में ये "सामान्य हैं" ऐसा ही बोध होगा। जिस प्रकार यष्टि और यष्टिवाला पुरुष ये दोनों परस्पर भिन्न २ हैं, परन्तु, जब इनमें अभेद का उपचार किया जाता है तब उस अभेद के उपचार से "पुरुषो यष्टिः" ऐसी ही प्रतीति-बुद्धि-होती है। यह यष्टिवाला है ऐसी बुद्धि नहीं होती है। उसी प्रकार द्रव्य और सामान्य में जब अभेद का उपचार किया जायगा तब द्रव्यादि व्यक्ति स्वयं सामान्य हैं ऐसी ही प्रतीति होगी। द्रव्यादि सामान्य वाले हैं ऐसी प्रतीति नहीं होगी। यदि फिर भी यों कहा जाय कि "यह द्रव्य इस द्रव्य के समान है" ऐसी बुद्धि क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी-क्योंकि सामान्य का वाचक समान शब्द है। समान के योग से द्रव्यादि समान हैं यह प्रत्यय होने में बाधा ही क्या है? सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि सामान्य का वाचक "समान" शब्द नहीं हो सकता है। सामान्य का अर्थ "समानानां भावः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "जाति" होता है और समान का अर्थ "सदृश" होता है। स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय का विधान करके भी "समान एव सामान्यं" इस रूप से समान शब्द जाति का वाचक नहीं हो सकता है। दूसरे जो अभी ऐसा कहा है कि "सामान्य और सामान्यवालों में भेद है" अर्थात् द्रव्यादिकों से सामान्य भिन्न सिद्ध होता है" सो ऐसे मानने का क्या कारण है? यदि कहो कि इस मान्यता का हेतु अन्वय प्रत्यय है "द्रव्यं सत्-द्रव्य सत हैं, गुण सत हैं, कर्म सत हैं।"

इस प्रकार का अन्वय प्रत्यय–सत् प्रत्यय–द्रव्यादिकों में जो होता है उसका कारण वही एक सामान्य है और इस अन्वय प्रत्यय से वह सामान्य अपने आश्रित द्रव्य, गुण एवं कर्म व्यक्तियों से भिन्न सिद्ध होता है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। कारण कि पर सामान्य एवं अपर सामान्य में एक भिन्न सामान्य की सिद्धि इस प्रकार के कथन से माननी पड़ेगी। इस तरह अनवस्था का दुर्निवार प्रसंग समक्ष में खड़ा हो जायगा। अन्त में अनवस्था दोष की आपत्ति को हटाने के लिये यदि यह कहा जाय कि अन्वय प्रत्यय होने पर भी उससे दूसरे सामान्य की सत्ता सिद्ध नहीं मानी जावेगी तो इससे तो फिर यही सर्वोत्तम बात है कि पहले से ही यही क्यों न माना जाय कि अन्वय प्रत्यय से सामान्य की सिद्धि नहीं होती है। यदि अन्वय प्रत्यय से सामान्य की सिद्धि करने के लिये यह कहा जाय कि द्रव्य, गुण और कर्म इन द्रव्यादि व्यक्तियों में जो अन्वय बुद्धि होती है वह अबाधित होने से अनुपचरित–मुख्य–है। सामान्यादि में–सामान्य, विशेष एवं समवाय इन तीन में जो अन्वय बुद्धि होती है वह उपचरित–अवास्तविक–मुख्य नहीं है। क्योंकि सामान्य में सामान्यान्तर की यदि कल्पना की जाय तो अनवस्था का प्रसंग आता है–इससे वहां अन्वय प्रत्यय बाधित होजाता है। अतः द्रव्यादित्रिक में अन्वय प्रत्यय मुख्य रूप से है और वह वहां सामान्य की सिद्धि कराता है। सामान्यादिक में उपचार से अन्वय प्रत्यय है अतः वह वहां उसकी

सिद्धि का निबन्धन नहीं होता है। इस प्रकार मुख्य और उप-चार की अपेक्षा से इस अन्वय प्रत्यय में यही विशेषता-खासि-यत-है। सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। कारण कि देश एवं कालादिक की अपेक्षा से भिन्न २ रूप से रहने वाली इन द्रव्या-दिक समस्त व्यक्तियों में एक एवं अनंशरूप सामान्य की युगपद् वृत्ति का होना विरोध से खाली नहीं है-बाधित है। जब वहां उसकी युगपत् वृत्ति विरोध से बाधित है-तब अन्वय बुद्धि से ऐसे सामान्य का वहां विषय होना मानना सर्वथा असम्भव है। अतः द्रव्यादित्रिक में भी अन्वय बुद्धि को जो तुम अनुपचरित कह रहे हो वह भी असिद्ध ही है।

शंका—जिस प्रकार अन्वय बुद्धि से एक और अनंश रूप सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती है-उसी प्रकार तुम्हारे मत में भी सदृश परिणाम रूप सामान्य की अन्वय बुद्धि से प्रसिद्धि कैसे हो सकती है। क्योंकि समान परिणामों में भी जो अन्वय बुद्धि हो रही है-उससे वहां समान परिणामान्तरों के सद्भाव का प्रसंग पूर्व की तरह मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था का सद्भाव होगा-जो अन्य समान परिणामों की वहां हस्ती का बाधक होता है। समान परिणाम का एक २ में भेद मानने पर बाधा का सद्भाव आता है-वह समान परिणाम ही नहीं है जो एक २ में रहता है-समान परिणाम तो अनेक में रहने वाला होता है।

उत्तर—इस प्रकार सदृश परिणामनरूप सामान्य के ऊपर शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि समान परिणामों में भी

मान्य समान परिणामों की प्रतीति जैन सिद्धान्त में कबूल करने में आई है। वे अन्य समान परिणाम परिमित नहीं हैं। किन्तु अनन्त हैं। इसलिये इस मान्यता को लेकर जो अनवस्था अद्भ-शित करने में आई है उसके लिये यहां अवकाश ही नहीं है। देखो—जैसे घटों में जो घटाकार रूप समान परिणाम प्रतीत होता है वह प्रत्येक अपर घट के परिणाम की अपेक्षा को लेकर ही तो प्रतीत होता है और इसी से "एते घटाः समानाः" ये सब घट परस्पर में समान हैं ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार घट के समान परिणामों में भी दूसरे जो मृदाकार समान परिणाम हैं वे प्रतिभासित होते ही हैं और इसी से यह कहा जाता है कि "एते घटसमानपरिणामाः मृदाकारेण समानाः" ये घट के समान परिणाम मिट्टी के आकार से समान हैं। इन मृदाकार समान परिणामों में भी पार्थिवाकार रूप समान परि-णामान्तर, इनमें भी मूर्तत्वाकाररूप समानपरिणामान्तर, इनमें भी द्रव्यत्वाकाररूप समानपरिणामान्तर आदि २ परिणामान्तर प्रतिभासित होते ही हैं। इनमें—इन समस्त परिणाम—परिणा-मान्तरों में—भेद नय की प्रधानता से वलय की तरह आदि और अन्त नहीं है कि जिससे यहां अनवस्था बाधक हो सके। दूसरे—जो ऊपर ऐसा कहा है कि समान परिणामों का एक २ में भेद माना जायगा —तो वे समान परिणाम ही नहीं हो सकेंगे इत्यादि—सो उनका एक २ में भेद मानने पर भी समान परि-णाम विरोध को प्राप्त नहीं होता है। संयोग सम्बन्ध जिस

प्रकार अनेकस्थ होता है उस प्रकार समान परिणाम अनेकस्थ नहीं होता है–किन्तु विशेष की तरह इसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाधीन मानी गई है। जैसे कृशत्व की अपेक्षा से स्थूलत्व अभिव्यक्त होता है" इस पर ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता है कि यह पदार्थों का समान परिणाम आपेक्षिक होने से अपरमार्थिक ही माना जायगा। क्योंकि ज्ञान में अपेक्षा लेकर विकसित होने वाली विशदता को भी फिर इस तरह से अपारमार्थिक मानना पड़ेगा। यह तो प्रसिद्ध ही है कि वृद्धावस्था के अक्ष संवेदन की अपेक्षा से कुमार अवस्था का अक्षसंवेदन विशदतर होता है। यहां पर जो कुमार अवस्था के अक्ष संवेदन में विशदता प्रकट की गई वह वृद्धावस्था के अक्ष संवेदन की अपेक्षा से कही गई है। यदि इन दोनों अवस्थाओं के अक्ष-सवेदनों में अपेक्षा कृत विशदता न मानी जावे तो फिर इन दोनों संवेदनों में विशेषता ही क्या रहेगी। अतः यह कहना कि पदार्थों का समान परिणाम आपेक्षिक होने से अपरमार्थिक ठीक नहीं है।

जिस समय परिणाम और परिणामी इन दोनों में अभेद-नय की प्रधानता मानी जाती है–उस समय इन दोनों का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध कथित होता है। इस तादात्म्य सम्बन्ध की विवक्षा में द्रव्य में जो द्रव्यत्वरूप समान परिणाम होता है वह द्रव्य से जुदा नहीं है, किन्तु उसका स्वरूप ही है। इसी प्रकार द्रव्यत्व रूप समान परिणाम के जो सत्त्वादिरूप समान परिणामान्तर हैं वे भी द्रव्य से जुदे नहीं हैं किन्तु द्रव्य

स्वरूप ही हैं। अतः इस अपेक्षा से अनवस्था अन्वय बुद्धि से समान परिणामान्तरों की सत्ता मानने में कैसे आ सकती है? नहीं आ सकती है। अथवा जिन द्रव्यों में द्रव्यत्वरूप समान परिणाम हैं उन्हीं में सत्त्वादि रूप समान परिणामान्तर व्यवस्थित हैं। तो जिस प्रकार संख्यादिगुणान्तरों द्वारा रूपादि गुण व्यपदिष्ट होते हैं उसी प्रकार उन सत्त्वादि रूप समानपरिणामन्तरों द्वारा एकार्थरूप द्रव्य में समवाय–तादात्म्य– के बल से वह द्रव्यत्वरूप समान परिणाम भी व्यपदिष्ट होता है। जिस द्रव्य में द्रव्यत्वरूप समान परिणाम तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है–उसी द्रव्य में सत्त्वादिरूप परिणामान्तर भी उसी सम्बन्ध से रहते हैं। इसी का नाम एकार्थ समवाय है। इस प्रकार वाक्य, भेद और अभेद नयों की प्रधानता से अर्पित जो समान परिणाम रूप सामान्य है उससे विपक्ष–विशिष्ट भेद की–द्रव्य पर्याय अथवा द्रव्य गुण एवं कर्म की–विधि और व्यवच्छेद का विषयक होता है यह बात निश्चित हो जाती है अन्यथा वाक्य में निर्विषयता का प्रसंग आता है।

जिस प्रकार अभेद-बुद्धि–समानबुद्धि से द्रव्यादि व्यक्तियों में समानता की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यावृत्ति बुद्धि से–भेद बुद्धि से–हे स्याद्वाद दिवाकर! आपके यहां विशिष्टता की प्रतीति होती है। वह इस प्रकार से है–विसदृश परिणाम का नाम विशेष है। "यह इससे भिन्न है" यही विसदृश परिणाम है। इस विसदृश परिणाम रूप विशेष से युक्तता का नाम ही

विशिष्टता है। यह विशिष्टता व्यावृत्ति बुद्धि से अध्यवसित होती है। यहां पर इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये "जब व्यावृत्ति बुद्धि से विशेषों की सिद्धि होती है—तो विशेषों में भी तो व्यावृत्ति बुद्धि होती है अर्थात् यह इससे भिन्न है इस प्रकार की व्यावृत्ति बुद्धि से विशेष की जिस प्रकार सिद्धि होती है— उसी प्रकार यह विशेष इन विशेषान्तरों से व्यावृत्त है इस प्रकार की व्यावृत्ति बुद्धि विशेषों में भी होती है तो उन विशेषों में भी विशेषान्तर की सिद्धि का प्रसंग मानना पड़ेगा। इस प्रकार की मान्यता से अनवस्था का दोषका सद्भाव होता है। यदि कहो कि विशेषों में विशेषान्तर के अभावों में भी व्यावृत्ति बुद्धि होती है इससे अनवस्था नहीं आवेगी—सो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार विशेषों में विशेषान्तर के अभाव में भी व्यावृत्ति बुद्धि का सद्भाव मान लिया गया उसी प्रकार विशेष के अभाव में भी सर्वत्र व्यावृत्ति बुद्धिका सद्भाव मान लेना चाहिये। इस प्रकार विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती है" क्योंकि समान परिणाम की तरह भेद और अभेद नय की प्रधानता से अनवस्था के लिये यहां अवकाश ही नहीं मिलता है। जब भेद की प्रधानता से विशेषों का विचार किया जाता है—तब अनन्त विशेषों की सिद्धि हो जाती है। अभेद नय से जब विशेषों का विचार किया जायगा—तब वे विशेष द्रव्य स्वरूप ही माने जायेंगे। इस प्रकार द्रव्यस्वरूप हुए उन विशेषों में अन्य विशेषान्तरों का सद्भाव भी संभवित होता है। युगपत् भेद और अभेद की

प्रधानता में एकार्थ समवायी—एक धर्म में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले—विशेषान्वयों से विवक्षित विशेष की सिद्धि होजाती है। इसलिये व्यावृत्ति बुद्धि से विशिष्टता की सिद्धि समीचीन है। जिस प्रकार अन्वय बुद्धि से समानता की सिद्धि निर्दोष प्रकट की गई है। इसीलिये स्वामि समन्तभद्राचार्य ने "वाक्य विशेष और सामान्य से विशिष्ट द्रव्य पर्याय अथवा द्रव्य, गुण और कर्मरूप भेदों की विधि और व्यवच्छेद इन दोनों का विधायक होता है" ऐसा कहा है। क्योंकि इसी रूप से वाक्य प्रतीति का विषय होता है। निष्कर्षार्थ इसका यही है—वाक्य सामान्य और विशेष से विशिष्ट द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों की विधि और व्यवच्छेद दोनों का विधायक होता है। ऐसा नहीं है कि वाक्य केवल विधि का ही विधायक होता हो, व्यवच्छेद का नहीं—व्यवच्छेद का ही विधायक हो, विधि का नहीं। क्योंकि इस एकान्त की मान्यता में जब वाक्य सामान्य विशेषात्मक पदार्थ की विधि का ही विधायक होगा तो उसमें इतर पदार्थ की व्यावृत्ति न होने से "चोदितो दधि खादेत् किमुष्ट्रं नाभिधावति" ऐसा भी होजाने का प्रसंग आयगा। अतः उच्चरित वाक्य से विवक्षित अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार यदि वाक्य सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के प्रतिषेध का ही विधायक माना जावेगा तो फिर जो "घटमानय" इस वाक्य के उच्चारण से घटानयन क्रिया होती है वह नहीं हो सकेगी। परन्तु होती है। अतः यह मानना चाहिये कि वाक्य सामान्य विशेषात्मक पदार्थ की विधि और

प्रतिषेध इन दोनों का विधायक होता है । जैसे—"घटलाओ" यह वाक्य प्रधानतया घट के लाने का जैसे विधान करता है उसी प्रकार गौणरूप से अघट न लाने का निषेध भी करता है। इसी प्रकार "घट मत लाओ" यह वाक्य जिस प्रकार प्रधानरूप से घट नहीं लाने का प्रतिषेध करता है उसी प्रकार अघट के लाने का गौण रूप से विधान भी करता है । यदि उच्चरित वाक्य प्रधानरूप से अपने अर्थ की विधि का विधायक होता हुआ गौण-रूप से इतर व्यावृत्ति का बोधक न हो तो विवक्षित अर्थ में इतर व्यावृत्ति का बोध कराने वाले अन्य वाक्यान्तरों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस तरह अनवस्था के सद्भाव में उच्चरित वाक्य से प्रवृत्त अर्थ का बोध ही नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना ही चाहिये कि वाक्य जो प्रधान भाव से विधि का विधायक होता है वह गौण रूप से प्रतिषेध का और जो प्रधानभाव से प्रतिषेध का विधायक होता है वह गौण रूप से विधि का विधायक होता है। पदार्थ में सामान्य धर्म अभेदबुद्धि से एवं विशेषधर्म व्यावृत्ति-बुद्धि से ज्ञात होता है। अतः पदार्थ न तो सामान्यात्मक ही है और न केवल विशेषात्मक ही है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक है। यही इस कारिका का मुकुलितार्थ है।

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२ ॥

अन्वय—"हे नाथ !" तवैव इदं तीर्थं सर्वान्तवत्, तद्गुणमुख्यकल्पं मिथोऽनपेक्षं च सर्वान्तशून्यम् (अतः इदमेव) सर्वापदां अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं अस्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! आपका ही यह तीर्थ–प्रवचनरूप शासन–सामान्य, विशेष, द्रव्य, पर्याय, नित्य, अनित्य, विधि, निषेध आदि अनेक धर्मों से युक्त है। इन समस्त धर्मों की व्यवस्था उसमें गुण और मुख्य की विवक्षा से करने में आई है (इसलिये यही सुव्यवस्थित है)। जो शासन–वाक्य धर्मों की परस्पर अपेक्षा से रहित है वह समस्त धर्मों से शून्य है (इसलिये वह सुव्यवस्थित नहीं है)। इसीलिये (आपका शासन) समस्त आपत्तियों का नाशक, निरन्त–किसी भी मिथ्यादर्शन से खंडित न हो सके ऐसा–एवं समस्त प्राणियों के अभ्युदय का कारण है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा सूत्रकार इस विषय की पुष्टि कर रहे हैं कि जिस प्रकार वाक्य सामान्य एवं विशेष इन दोनों धर्मों से युक्त द्रव्य एवं पर्यायरूप भेदों की विधि और व्यवच्छेद दोनों का विधायक होता है। क्योंकि ऐसी ही प्रतीति होती है कि द्रव्य और पर्याय ये दोनों ही विधि–अस्तिरूप एवं व्यवच्छेद–नास्तिरूप धर्मों से युक्त हैं और इसी प्रतीति के बल पर विधि और व्यवच्छेदात्मक सामान्य विशेषस्वरूप पदार्थ–भेद–

द्रव्य एवं पर्याय-वाक्य का विषय होता है। उसी प्रकार परमागमलक्षण रूप वाक्य भी स्वयं सामान्य विशेष धर्म विशिष्ट होने से विधि और व्यवच्छेद धर्मवाला है-तादात्मक है। कारिका में "सर्वान्त" शब्द से विशेष सामान्यात्मक द्रव्य और पर्यायों के मुख्यतया अस्ति एवं नास्ति रूप धर्मों का ग्रहण हुआ है। क्योंकि संक्षेप से इन्हीं धर्मों द्वारा अन्य अनन्त धर्मों का संग्रह हो जाता है। परमागम लक्षण रूप वाक्य में स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से विधिधर्मता एवं परद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से व्यवच्छेद-नास्तिधर्मता आती है। परस्परापेक्ष धर्मों का जो निराकांक्ष-अन्य पदान्तर की अपेक्षा विना का-समूह है उसका नाम वाक्य है। वाक्य दो प्रकार का है-१. अन्तर्वाक्य, २. बहिर्वाक्य। परस्परापेक्ष पदों का जो निराकांक्ष समुदाय है वह बहिर्वाक्य है। पूर्व पूर्व पद ज्ञान से स्थापित संस्कार विशिष्ट आत्मा को जो अन्तिम पद के ज्ञान से समुदायार्थ का प्रतिभास होता है वह अन्तर्वाक्य है। "अपने स्वरूप का आदान एवं पर के स्वरूप का अपोहन होना यही तो वस्तु की वस्तुता है।" इस नियम के अनुसार द्विविध प्रकार का वाक्य स्वरूप से ही अस्तित्व युक्त है पर रूप से तत्स्वरूप नहीं है। पररूप की अपेक्षा अस्तित्व मानने में वाक्य में सर्वात्मकता की आपत्ति आती है। स्वरूप से नास्तित्व मानने पर सर्वाभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अतः स्वरूपतः वाक्य में अस्तित्व और पररूपतः नास्तित्व माना गया है। वाक्य के स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव ये

स्वरूप हैं। परद्रव्य, परक्षेत्र आदि पर रूप हैं। वाक्य बनता है पदों के समुदाय से। पद बनता है परस्परापेक्ष शब्दों के समुदाय से। जब शब्द का स्वद्रव्य तद्योग्य पुद्गल द्रव्य है तो इससे तो यह बात अर्थात् उत्पन्न होती है कि शब्दात्मक वाक्य भी पुद्गल की पर्याय है। इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि बहिर्वाक्य ही पौद्गलिक है अन्तर्वाक्य नहीं। वह तो ज्ञान स्वरूप माना गया है। शब्द योग्य पुद्गलद्रव्य की विवक्षा से शब्द द्रव्य है और श्रवण जन्य ज्ञान के द्वारा बाह्य शब्द रूप पर्याय की विवक्षा से वही पर्याय माना जाता है। इसलिये शब्दात्मक वाक्य में द्रव्य और पर्याय रूपता मानी गई है। वाक्य में सामान्य विशेषात्मकता शब्द रूप द्रव्यों के और शब्द रूप पर्यायों के नाना रूप होने से सिद्ध होती है। इस कारिका में मुख्यतया टीकाकार ने शब्द को पौद्गलिक सिद्ध किया है। इस विषय की उन्होंने पूर्वोत्तर पक्ष के रूप म काफी चर्चा है। साथ में प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व का भी दिङ्मात्र परिचय दिया है। चक्षुरादि द्रव्य इन्द्रियां सब ही पौद्गलिक हैं। अतः जो घ्राण को पार्थिव, रसना को जलीय, स्पर्शन को वायु का कार्य, चक्षु को तैजस एवं श्रोत्र को नाभस मानते हैं, उनका पक्ष खंडित किया है। शब्द का उपादान कारण भाषा वर्गणा रूप पुद्गल है। वायु या आकाश नहीं। इस विषय की भी खूब चर्चा है। साधारण जनता को इनमें रस नहीं आने की वजह से उन्हें यहां नहीं लिखा है।

"तद्गुणमुख्य कल्पं" इस पद से सूत्रकार ने यह अभिप्राय प्रदर्शित किया है कि कोई यदि इस प्रकार की शङ्का करे कि जब द्रव्य पर्यायात्मक एवं सामान्य विशेषात्मक वाक्य है तो इन समस्त धर्मों का उसमें युगपत् व्यवहार होने का प्रसंग प्राप्त होगा, सो इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बात नहीं है। कारण कि जब एक धर्म मुख्य होता है तब दूसरा धर्म गौण हो जाता है। जब द्रव्य की मुख्यता से वाक्य की विवक्षा होगी तो पर्याय की वहां गौणता हो जावेगी। और जब पर्याय की वहां मुख्यता होगी तो द्रव्य की गौणता हो जावेगी। इस अपेक्षा से पर्याय रूपता और द्रव्य रूपता वाक्य में सुव्यवस्थित होती है। वाक्य में सामान्य विशेषरूपता की भी इसी विवक्षा से सुव्यवस्था घटित हो जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था मानने में कोई भी बाधक प्रमाण संभव नहीं होता है। न तो संकर दोष आता है और न व्यतिकर दोष ही। समस्त धर्म वहां निर्दोषरूप से सुव्यवस्थित रहते हैं। ये सब धर्म वहां सापेक्ष हैं—अतः विरोधादि दोषों को भी यहां अवकाश नहीं मिलता है।

"सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षं" इस पद से सूत्रकार ने यह अभिप्राय पुष्ट किया है कि जिस वाक्य में परस्पर निरपेक्ष होकर समस्त धर्म रहते हैं वह वाक्य सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से रहित होने के कारण सुव्यवस्थित नहीं माना जा सकता है। अर्थात् वह शासन वाक्य ही नहीं है जिसमें सर्वान्त परस्पर निरपेक्ष होकर रहते हैं। विधि नास्तित्व निरपेक्ष एवं नास्तित्व-

धर्म विधि निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। जो धर्म किसी अपेक्षा से विधीयमान होता है वही अन्य दूसरी अपेक्षा से निषेध्यमान हो जाता है। जो कथंचित् निषेध्यमान होता है—वही किसी दूसरी अपेक्षा से विधीयमान हो जाता है। यदि निषेध निरपेक्ष विधि स्वीकार की जावे तो सर्वात्मकता का दुर्निवार प्रसंग होता है। इस प्रकार वाक्य में सामान्य विशेष एवं द्रव्य और पर्याय ये भी मिथोऽनपेक्ष नहीं है। समस्त धर्मों का अस्तित्व परमागमलक्षण रूप वाक्य में विवक्षावश ही घटित किया गया है। अत. मिथोऽनपेक्ष वाक्य सर्वान्तशून्य है यह सिद्ध हो जाता है। परस्पर निरपेक्ष धर्मों की किसी भी रूप से व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। व्यवस्था बनने का कारण उनमें परस्पर की अपेक्षा है। अतः—जो धर्मकीर्ति (बौद्धाचार्य) ने कहा है कि—

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते॥"

पदार्थों का जिस एक अनेक रूप से निरपेक्ष अवस्था में निरूपण किया जाता है उनका वह रूप वास्तविक है ही नहीं। सो वह हम स्याद्वादियों को इष्ट ही है। इसलिये—

"तदेतत्तु समायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥"

यह बात समक्ष आकर उपस्थित होती है कि जिस २ रूप से पदार्थों का विचार किया जाता है वे उस २ रूप से विशीर्ण-दशा को प्राप्त होते चले जाते हैं। इसलिये परस्परापेक्ष होकर

हो पदार्थ व्यवस्था किसी न किसी रूप से व्यवस्थित हो सकती है। अन्यथा नहीं इस कारण से "सर्वापदामन्तकरं तवैव परमागमलक्षणं तीर्थम्" हे नाथ! आपका ही परमागमलक्षण तीर्थ—जिसके द्वारा संसार रूपी महा समुद्र पार किया जाता है ऐसा शासन—सकल आपत्तियों का अन्त करनेवाला है। क्योंकि इससे ही सकल मिथ्यादर्शन आदि दुर्नयों का विनाश होता है। शारीरिक मानसिक आदि विविध दुःखरूप आपत्तियों का एक कारण दुर्नय हैं। जब हे नाथ! आपके शासन से दुर्नयों का विनाश हो जाता है तो कारण के विनाश से शारीरिक मानसिक विविध दुःखरूप आपत्तियों का विनाश उससे युक्तियुक्त बैठ जाता है। जितनी भी आपत्तियां हैं उन सबका मूलकारण एक मिथ्यादर्शन है। जब आपका शासन सर्वमिथ्यादर्शनों का विनाश करनेवाला है तो इसी से उसमें सर्व आपत्तियों की अन्तकरता भी प्रथित हो जाती है। इसी बात को कंठोक्त करने के लिये "निरंतं" यह पद ग्रन्थकार ने सूत्र में निहित किया है। इस पद द्वारा वे यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वीर का यह शासन किसी भी एकान्तदर्शन रूप मिथ्यादर्शन के द्वारा अन्त्य नहीं है—अजेय है। सर्वोदय स्वरूपता शासन में प्रकट करने के लिये "सर्वोदयं" यह पद कारिका में निहित हुआ है। जितने भी अभ्युदय हैं उनका कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र और उनके भेद हैं। इनका और इनके भेदों का भी कारण आपका शासन है। अतः हेतु का हेतु होने से शासन में

सर्वोदयता प्रकट की गई है। अतः जो भी वादी इसका आश्रय करेंगे उसे निर्व्याज चित्त शुचि से पूर्णतया अपनायेंगे—वे अभ्युदय के पात्र होंगे—अपना विकास करने में समर्थ होंगे। इसलिये भगवत्प्रवचन में सर्वोदय के प्रति कारणता कथित करने में आई है।

शब्द पौद्गलिक है एवं चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। यह विषय अच्छी तरह से प्रथम कारिका की टीका में अन्य ग्रन्थों के उद्धरण सहित प्रकट किया जा चुका है।

> कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
> समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
> त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो,
> भवत्यभद्रोऽपि समंतभद्रः ॥६२॥

अन्वय—हे नाथ ! त्वयि कामं द्विषन् अपि समदृष्टिः उपपत्तिचक्षुः ते इष्टं समीक्षतां (सः) ध्रुवं खंडितमानशृंगो भवति। अभद्रोऽपि समंतभद्रः भवति।

अर्थ—हे नाथ ! आपके अनेकान्त शासन से इच्छानुसार द्वेष रखने वाला एकान्तवादी भी यदि मध्यस्थवृत्ति होकर युक्ति-युक्त दृष्टि से उसका निरीक्षण करता है तो वह नियम से अपने मान रूपी शृंग से—एकान्त के दुरभिनिवेश से—च्युत हो जाता है तथा अभद्र भी समंतभद्र—सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा ग्रन्थकार ने उन एकान्तवादियों

की मान्यता का समाधान किया है जो यह कहते हैं कि नैरात्म्यवादी का ही तीर्थ सर्वोदय स्वरूप एवं सर्वापदाओं का अन्त करनेवाला है—उनका[1] कहना है कि—जब तक मन में अहंकार रहता है तब तक जन्म प्रबन्ध—जन्म परंपराका अन्त नहीं आता है। आत्म दृष्टि भले हो जाय, इससे होता क्या है। हृदय से अहंकार थोड़े ही नष्ट हो जाता है। इसलिये अहंकार को नष्ट करने वाला यदि कोई सिद्धान्त है तो वह एक नैरात्म्यवाद ही है। यही जगत में उत्तम से उत्तम शास्ता है। इसके सिवाय अहंकार को उपशमाने की विधि का अन्यमार्ग नहीं है। इस पर परमात्मवादी ऐसा कहता है कि नहीं वेदान्तवादियों का ही तीर्थ सर्वोदय स्वरूप है। नैरात्म्यवादी आदिकों का नहीं। क्योंकि वह तो संशय का हेतु है—सो ही कहा है—जिसके होने पर ही यह वह तेज का पुंज स्वयं भगवान् अंशुमाली (सूर्य भी) कि जो समस्त लोकों को प्रकाशित करता है एवं जिसकी महिमा भी अपरंपार है प्रकाशित हो रहा है। यदि वह नहीं होता तो यह प्रकाशित नहीं हो सकता। इसमें जो भी तेजः पुंज आया है वह उस प्रकाशमय परम पुरुष से ही आया है। ऐसे बोधमय प्रकाश से विशद और मोह रूपी अंध-

---

(१) साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो,
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्।
अन्यःशास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादा-
न्नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः ॥ १ ॥

कार के विध्वंसक अंतर्यामी पुरुष में जो प्रतिहत होकर संदिग्ध बने हुए हैं वे नष्ट हैं। इसी प्रकार और भी ईश्वरवादी ईश्वर को ही सर्वोदय स्वरूप तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार ये सब प्रति-द्वन्द्वी स्याद्वादियों द्वारा सम्मत तीर्थ के प्रति अनेक प्रकार से मनमुटाव रखते हैं। अतः सूत्रकार कहते हैं कि हे नाथ! आपके द्वारा प्रतिपादित तीर्थ के प्रति इन वादियों के हृदय में इस तरह अनेक प्रकार से मनमुटाव हो रहा आवे। इसकी चिंता नहीं है। कारण कि इसमें इन विचारों का अपराध नहीं है। अपराधी तो इनका वह दुरागम ही है कि जिसने इन्हों के अन्तः-करण में आपके स्याद्वादसिद्धान्त से मनमुटाव होने की भावना भरी है—जिस दुरागम की वासना से इनका अन्तःकरण वशी-कृत हुआ है। महाराज! दर्शन मोहनीय कर्म का उदय ही कुछ ऐसा अनोखा है—कि जिसकी वजह से प्राणी अनिष्ट को भी इष्ट स्वरूप मान लेता है। परन्तु, हमारा उनके प्रति इतना साग्रह अनुरोध अवश्य है कि वे कम से कम स्याद्वाद रूपी अमृत के समुद्र आपके "अन्तर्बहिस्तत्त्व सब ही अनेकात्मक हैं" इस प्रतिपादित सिद्धान्त—इष्टतत्त्वस्वरूपतीर्थ—का पक्षपात का चश्मा उतार कर वास्तविक दृष्टि से एक बार तो निरीक्षण या परीक्षण कर लें। "उपपत्तिचक्षुः" इस पद से सूत्रकार का यही अभिप्राय है कि जब तक मात्सर्य का परित्याग नहीं होता है, तब तक युक्तियुक्त दृष्टि प्राप्त नहीं होती है—और न कोई समाधान का मार्ग ही हाथ आता है। मात्सर्य से दूषित दृष्टिवाला तत्त्व की

समीक्षा करने का अधिकारी नहीं माना गया है। अतः प्रभो! यह हम "ध्रुव" डंके की चोट कहते हैं कि उपपत्तिचक्षु एवं समदृष्टि विशिष्ट होकर जो भी कोई प्रतिवादी आपके इष्टतत्त्व का निरीक्षण परीक्षण करेगा वह सर्वथा एकान्त के अभिनिवेश रूप मान का परित्याग कर आपके ऊपर अनुरक्त हो ही जायगा। मान को शृंग रूप से उपमित सूत्रकार ने इसलिये किया है कि यह मान जिसमें रहता है उसे विवेक शून्य बना देता है। विवेक शून्यता आने से जीव पशु जैसा हो जाता है। अनंत सांसारिक दुःख यहां अभद्र शब्द के वाच्य होना चाहिये थे। परन्तु इन अनन्त सांसारिक दुःखों का कारण होने से मिथ्यादर्शन एवं मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से मिथ्यादृष्टि आत्मा अभद्र कहा गया है। वह मिथ्यादृष्टि समदृष्टि होकर उपपत्तिचक्षु से अवलोकन-परीक्षण-करता हुआ आपके ही इष्ट तत्त्व का श्रद्धान करता है। क्योंकि सर्वथा एकान्तवादी द्वारा अभिमततत्त्व उपपत्ति-युक्ति-से शून्य है। अतः उसके समदर्शन में जो भी उपपत्तियां वहां निवेशित होंगी वे सब मिथ्यात्व स्वरूप होंगी-इसीलिये उनसे उस एकान्तवादी का अभिमान शृंग विनष्ट हो जायगा। तथा-तुम्हारे इष्ट तत्त्व का श्रद्धान करता हुआ वही प्राणी सम्यग्दृष्टि हो जावेगा। अतः उसके समन्तात्-सब प्रकार से अथवा सब ओर से अनंत सुख के कारण भूत सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होने से वही अभद्र समन्तभद्र हो जाता है। दर्शन मोहनीय के विगम होने पर तत्त्व परीक्षण सम्य-

दर्शन का कारण होता है। यहां पर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि दर्शन मोहनीय के निगम होने पर तत्व की परीक्षा सम्यग्दर्शन की हेतु कैसे होती है। क्योंकि किसी २ के कथं-चित् किसी अपेक्षा से परीक्ष्य पदार्थ विषयक ज्ञानावरणीय एवं वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से तत्वों की परीक्षा करना घटित होता है। जब तत्वों की परीक्षा हो चुकती है तब वह परीक्षित तत्त्व का परीक्षा करने वाले के लिये असत्व के व्यवच्छेद से निश्चय करा देती है। जब तत्व विषयक निश्चय परीक्षक के हृदय में सुघटित हो जाता है तब वह दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम के सद्भाव में तत्व विषयक श्रद्धान को प्रादुर्भूत कर देता है। इस कारण उपपत्ति रूप चक्षु से-मात्सर्य के त्याग पूर्वक युक्तियुक्त समाधान की भावना से-समीक्षा को करता हुआ सम्यग्दृष्टि समंतभद्र हो जाता है। परीक्षा में उपपत्ति के बल से नैरात्म्य ही उपशम विधिका मार्ग है यह व्यवस्थित नहीं होता है।

शंका—नैरात्म्य ही उपशम विधिका मार्ग है—यह बात इस प्रकार से सिद्ध होती है—जन्म प्रबन्ध का कारण अहंकार है। क्यों कि अहंकार के होने पर ही जन्म प्रबन्ध का सद्भाव पाया जाता है। इसके अभाव में जन्म प्रबन्ध का भी अभाव हो जाता है। इस अहंकार का कारण आत्मदृष्टि—आत्मदर्शन है। इस आत्मदर्शन की विरोधिनी नैरात्म्यभावना है। इस भावना से ही वह आत्मदृष्टि शमित होती है। जब आत्मदृष्टि

शमित हो जाती है तब अहंकार भी चित्त से समूलतल उपशमित हो जाता है। जहां अहंकार का शमन हुआ कि देहियों-प्राणियों-के जन्म प्रबन्ध का भी शमन निश्चित हुआ समझना चाहिये। अतः इस उपपत्ति के बल से यही बात स्पष्ट होती है कि नैरात्म्य भावना ही उपशम विधि का एक सच्चा मार्ग है।

उत्तर---यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि आत्मदृष्टि-आत्मदर्शन ही जन्म प्रबन्ध की उपशमन विधि का मार्ग है। जिस अहंकार को आप जन्म प्रबन्ध का कारण बता रहे हो वह कौनसा अहंकार है-क्या जिसका हेतु मोह है उस अहंकार को जन्म प्रबन्ध का हेतु आप कहते हो, या जिसका हेतु अहंतामात्र है अहंपनामात्र है-उस अहंकार को जन्म प्रबन्ध का हेतु कहते हो? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अहंकार की उत्पत्ति में आत्मदृष्टि कारण नहीं पडती है। जैसा कि आपने अपने पूर्व पक्ष में कहा है। उसकी उत्पत्ति का कारण तो मोह का उदय होता है। इस मोह के उदय में ही आत्मदृष्टि अहंकार की हेतु होती है इसमें कुछ भी अयुक्त नहीं है। द्वितीय पक्ष कि जिसमें अहंकार का हेतु अहंतामात्र है युक्तिविरुद्ध है। कारण कि संसार का कारण अहंतामात्र नहीं हो सकता है। अन्यथा मुक्त के भी संसार के सद्भाव का प्रसंग मानना पडेगा। अविद्या तृष्णा समन्वित अहंता ही संसार का कारण होती है। इनसे शून्य अहंता नहीं। "अहं" इत्याकारक विकल्प अहंता नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का विकल्प सकल विकल्पों से शून्य

योगियों को नहीं होता है। "अहमस्य स्वामी" मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममेदं भाव भी अहंता मात्र नहीं है। क्योंकि इस ममेदं भाव का कारण मोह का उदय है। जिसके मोहक्षीण हो चुका है ऐसे योगी में इस ममेदं भाव की संभावना ही नहीं है। अतः अविद्या तृष्णा शून्य आत्मदृष्टि ही अहंता है। और वही जन्म प्रबन्ध के उपशम की हेतु है ऐसा मानना चाहिये। नैरात्म्य भावना नहीं। यदि इस पर फिर भी यों कहा जाय कि आत्मदृष्टि स्वयं अविद्या स्वरूप है। अविद्या तृष्णा की हेतु होती है। अतः आत्मदृष्टि में अविद्या तृष्णा शून्यता घटित नहीं होती—सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि चित्तक्षण की दृष्टि की तरह आत्मदृष्टि अविद्या स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार प्रतिक्षण चित्त का दर्शन बौद्ध सिद्धान्त में विद्या स्वरूप माना गया है क्योंकि इसके बिना बुद्धि का संचरण नहीं बन सकता है उसी प्रकार अनादि अनंत आत्मा की दृष्टि भी विद्या है। अनादि अनंत आत्मा के अभाव में अहंता—मैं वही हूँ—इस अहंता प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। चित्त संतान अहंता प्रत्यभिज्ञान का हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में संतान को अवस्तु रूप माना गया है। यदि संतान वस्तु स्वरूप कल्पित किया जाय तो वही आत्मा सिद्ध हो जाता है। इसलिये नैरात्म्य भावना के लिये कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। अतः कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य आत्मा का दर्शन ही मोहोदय निमित्तक अहंकार के नाश करने का

हेतु होता है। नैरात्म्यभावना नहीं। पुरुषाद्वैत-वेदान्तदर्शन की मान्यता में भी संसार, मोक्ष एवं उनके कारणों का सद्भाव ही सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि इनकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होने से ब्रह्म और संसार मोक्ष आदि दो वस्तुएं अलग २ सिद्ध हो जाती है। इससे अद्वैत की सिद्धि न द्वैत की सिद्धि का प्रसंग आता है। अत. इनकी प्रशंसा में जो पूर्व अवतारणा के समय "यो लोकान्" इत्यादि श्लोक कहा गया है वह ठीक नहीं बैठ सकता है। अतः जन्म प्रबन्ध की उपशमविधि का मार्ग अद्वा- द्वैत तत्त्व की मान्यता भी नहीं है। इसी तरह ईश्वर की कल्पना भी ऐसी ही समझना चाहिये। अतः आत्मदर्शन ही जन्म प्रबन्ध के शमन का सुन्दर से सुन्दर निर्दोष इलाज है। ऐसा ही मानना चाहिये।

(शिखरिणी छन्द)

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायाऽन्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां,
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥६४॥

अन्वय—नः (इदं) स्तोत्रं भव-पाशच्छिदि भवति मुनौ रागात् न "प्रवृत्तं" अन्येषु च द्वेषाद् न (प्रवृत्तं) (यतो द्वेषात्) अपगुणकथा- भ्यासखलता।) किमु-न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां हितान्वेषोपायः तव गुणकथासंगगदितः।

अर्थ—हे नाथ! हमारा यह स्तोत्र भवपाश के छेदक आप (मैं) मुनि के प्रति रागभाव को आश्रित कर प्रवृत्त नहीं

हुआ है। और न इस स्तोत्र की उत्पत्ति में अन्य एकान्तवादियों के प्रति द्वेषभाव ही कारण है। क्योंकि द्वेष के वश दूसरों के दोषों के कहने का अभ्यास खलता-दुर्जनता मानी जाती है। तब इस स्तोत्र की उत्पत्ति का बीज ? बीज यही है कि जिनका मन न्याय और अन्याय को जानने के लिये उत्कंठित है एवं प्रकृत पदार्थों के गुण और दोषों को जानने के लिये जिनके अन्तःकरण में धगस–जिज्ञासावृत्ति–जगी हुई है उनके निमित्त यह हिताहित के अन्वेषण का उपाय आपकी गुणगणकथा के साथ कहा गया है।

भावार्थ—शंकाकार की इस शंका का इस कारिका द्वारा सूत्रकार ने समाधान किया है जो वह यह कहता है कि आपने जो प्रभु वर्द्धमान स्वामी की यह गुणस्तुति की है वह उनमें रागभाव की जागृति से ही तो की है। एवं अन्य तीर्थिकों में जो इस स्तुति के साथ २ दोषोद्भावन किया है वह उनमें द्वेष के वशवर्ती होकर किया गया है। सो यह पक्षपात उपपत्ति चक्षु वालों के लिये उचित नहीं है। इससे परमार्थ स्तुति नहीं सधती है। इस पर सूत्रकार स्वामी समंतभद्राचार्य कहते हैं कि ऐसा विचार मत करना–कारण कि प्रभु वर्द्धमान स्वामी की स्तुति स्वरूप जो यह स्तोत्र कहा गया है उसका प्रधान उद्देश्य यही है कि जो न्याय और अन्याय के स्वरूप को जानने की भावना वाले हैं एवं प्रकृत पदार्थों का अन्य सिद्धान्तकारों द्वारा एवं जैन सिद्धान्तकारों द्वारा मान्य तत्त्वों का–प्रतिपादन यथार्थ है या

अयथार्थ है इस विषय को जानने की जिनकी जिज्ञासा है उनके लिये यह हित प्राप्ति और अहित के परिहार स्वरूप उपाय प्रभु की गुणगणकथनी के साथ २ कहा गया है। इसमें पक्षपात की कोई बात नहीं है। द्वेष के वश होकर दूसरों के दुर्गुणों का प्रदर्शन करना यह खलता है। यह हमारे हृदय में नहीं है। वीर प्रभु भवपाश के छेदक हैं। हम भी इस पाश को छेदने के अर्थी हैं। इसलिये इस प्रयोजन से भी इस स्तोत्र की रचना की। इस प्रकार इस युक्त्यनुशासन रूप स्तोत्र में श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो बातें ही प्रयोजक हैं।

अब सूत्रकार इस स्तोत्र की समाप्ति करते हुए प्रभु वीर से स्तोत्र के फल की प्रार्थना करते हैं—

(शिखरिणी छन्द)

इतिस्तुत्यःस्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैःप्रणिहितैः,
स्तुतःशक्त्याश्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन ! मया।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये,
विधेया मे भक्तिः पथिभवत एवाप्रतिनिधौ ॥६५॥

अन्वय—हे जिन ! दुरितपरसेनाभिविजये वीरः, श्रेयःपदमधिगतः (अतएव) महावीरः, स्तुत्यैः त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः स्तुत्यः त्वं मया स्तुतः। (अतः) अप्रतिनिधौ भवतः एवपथि मे भक्तिः विधेया॥

अर्थ—हे वीर जिन ! आप कर्मरूपी परसेना को सब तरह से जीतने में पूर्णशक्ति शाली हैं। मुक्ति पदको अपने आधीन करने से

महावीर-वीरों में भी वीर हैं। और स्तुत्य इन्द्रादि देवों एवं मुनीन्द्र-गणधरादि देवों द्वारा एकाग्रचित्त से आप स्तुत्य हैं। इसीलिये हे नाथ! आपकी मैंने अपनी शक्ति के अनुसार स्तुति की है। अतः आप अपने इस अप्रतिनिधिरूप मार्ग-शासन- में ही मेरी भक्ति को विशेष रूप से चरितार्थ करो।

भावार्थ—इस अन्ययोग व्यवच्छेद रूप स्तोत्र की समाप्ति करते हुए सूत्रकार स्वामी समन्तभद्राचार्य अन्त में इस स्तुति के फल की कामना प्रभु से स्पष्ट रूप में प्रकट कर रहे हैं-इसमें वे, मैंने- मुझ जैसे परीक्षा प्रधानी व्यक्ति ने-आपकी स्तुति क्यों की इसका कारण निर्देश करते हुए आपकी इस स्तुति का मुझे क्या फल-आपकी ओर से पुरस्कार-मिलना चाहिये इस याचना को भी स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर चुके हैं। सर्व प्रथम "मैंने आपकी स्तुति क्यों की" इस विषय का समाधान वे कारिकागत ३ पदों से कहते हैं-हे नाथ! आपने मोहादिक कर्मरूपी सेना पर अपनी विजय का पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया है-इसलिये जगत में आप वीर्यातिशय सम्पन्न होने से वीर इस नाम से प्रथित हुए हैं-मोहादि परसेना का पूर्ण विजय बिना वीर के और किसी भी साधारण-वीर्यातिशय शून्य अवीर-रथ्यापुरुष में संभवित नहीं होता है। अतः "वीर" इस अनुपमख्याति का हेतु "दुरितपर सेनाभिविजय" है। आप असाधारण वीर ही हो-वीर्यातिशय सम्पन्न ही हो-सो भी बात नहीं है किन्तु हे प्रभो! आप तो वीरों के भी वीर हैं-

महावीर—हैं। इसमें हेतु एक यही है कि आपने मुक्तिरूपीपद—स्थान को अपने कब्जे में कर लिया है। स्तुति करने का तीसरा कारण एक यह है कि आपकी स्तुति देवेन्द्रों एवं मुनीन्द्रों ने भी एकाग्रचित्त होकर की है। पूर्वोक्त दो कारणों को स्वयं सूत्रकार ने "त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुला व्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम्। अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशः" इस इसी ग्रन्थ की चतुर्थ कारिका में विशेष स्पष्ट कर दिया है। जो वीर एवं महावीर होगा वह अन्यों से स्तुति किये देवेन्द्रों एवं मुनीन्द्रों द्वारा स्तुत्य होगा ही। इसी विषय को प्रकट करने के लिये कारिका में "स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः" इन पदों को स्थान मिला है। इस तरह वीर में वीर्यातिशयरूप-अनन्तवीर्यत्वरूप-वीरत्व सिद्ध करने में "दुरित परसेनाभिविजय" यह, सकलवीराधिपतित्व रूप महावीरत्व सिद्ध करने में "श्रेयः पदमधिगतत्व" यह एवं स्तुत्यत्रिदशमुनिमुख्यैः स्तुत्य में "महावीरत्व" यह ये सब हेतुरूप से कथित हुए जानना चाहिये। जो समंतभद्र आचार्य वीर भगवान को अपनी स्तुति के विषय बनाने वाले हैं भला उनके द्वारा स्तुत भगवान ही होंगे इसलिये उन्होंने भगवान के ही मार्ग में भक्ति की प्रार्थना की है। इस प्रकार स्तुति करने का कारण निर्दिष्ट कर वे प्रभु के सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्ग को अजोड़-अनुपमित- जिसकी शानी का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है—बतला रहे हैं। कारण कि ज्ञानमात्र अथवा वैराग्यमात्र तथा

ज्ञान और वैराग्य ये दोनों परम आत्मा-मुक्ति की प्राप्ति के उपाय नहीं हो सकते हैं। जब संसार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं तो विचारने की बात है कि एकसिर्फ ज्ञान स इनकी सबकी विनिवृत्ति कैसे हो सकती है। ज्ञानमात्र से अपने प्रतिपक्षी केवल मिथ्याज्ञान की ही निवृत्ति हो सकती है। रागद्वेष आदि मिथ्या चारित्र की नहीं। क्योंकि यह देखा जाता है कि जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त भी हो चुका है उनके रागादिक दोषों का सद्भाव पाया जाता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि जिससे मोह प्रक्षीण हो चुका है ऐसे तत्वज्ञान से रागादिक मिथ्या चारित्र की निवृत्ति हो जाती है तो यहां पर भी यही प्रश्न खड़ा होता है कि मोह का प्रलय किससे होता है। यदि कहो तत्त्वज्ञान के अतिशय से तो इस प्रकार की मान्यता में मोह प्रक्षीणता और तत्वज्ञान का अतिशय इन दोनों में परस्पराश्रय नाम का दूषण आता है। तत्त्वज्ञान का अतिशय भी क्या चीज है? यह भी तो कहो– यदि इसके प्रत्युत्तर में "सकल पदार्थों का जानना" यही तत्त्वज्ञान का अतिशय है ऐसा कहा जाय तो इस पर फिर भी प्रश्न होता है कि वह अतिशय भी कैसे सिद्ध होता है कहो-धर्म विशेष से, तो फिर भी शंका की निवृत्ति नहीं होती है-कारण कि धर्म विशेष की भी सिद्धि का कारण क्या है-यह भी बताओ। यदि इसके प्रत्युत्तर में समाधि को उपस्थित करो तो फिर भी यही जिज्ञासा जगती है कि वह तत्त्वज्ञान ही समाधि विशेष है या तत्त्वज्ञान से अन्य कोई

दूसरी चीज समाधि विशेष है यदि। इनमें प्रथम पक्ष स्वीकृति के स्थान पर रक्खा जावे तो यह बात इससे पुष्ट होती है कि स्थिरीभूत तत्त्वज्ञान ही समाधि है। तो फिर आप यह प्रकट और कीजिये कि यह तत्त्वज्ञानरूप समाधि क्या आगमज्ञान रूप पड़ती है या योगिज्ञान रूप। यदि आगम ज्ञान रूप समाधि मानी जावे तो फिर क्या है न्यायदर्शनवेत्ताओं को इस प्रकार की समाधि का सद्भाव सिद्ध ही होता है। क्योंकि उन्हें तो यह बात अच्छी तरह ज्ञात है कि मिथ्याज्ञान दोषों का, दोष प्रवृत्ति के, प्रवृत्ति जन्म का और जन्म दुःख का कारण है इस प्रकार दुःख, जन्म आदि का उन्हें कार्य कारण भाव विषयक आगम ज्ञान होने से वह उनमें धर्मविशेष का जनक हो जायगा और धर्म विशेष उनमें योगिज्ञान सकलपदार्थ साक्षात्कारी ज्ञान–का जनक हो जायगा—इस प्रकार बिना कुछ किये धरे उन्हें उसी भव से मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होजाता है। यदि योगिज्ञान समाधि विशेष है इस द्वितीय पक्ष का आश्रय किया जाय तो इस पक्ष में वही परस्पराश्रय दोष प्रसक्त होता है। जब योगिज्ञान रूप समाधि विशेष स्थिर होगी तो जाकर उससे धर्म विशेष होगा—और धर्म विशेष की प्रादुर्भूति योगिज्ञान रूप समाधि विशेषसिद्ध होगा—इस प्रकार किसी की भी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि तत्त्वज्ञान से समाधि भिन्न वस्तु है यह पूर्व का विकल्प मान्य किया जावे—तो फिर इस कथन से सम्यक् चारित्र के अतिरिक्त और समाधि क्या चीज सिद्ध होती है। सम्यक्

चारित्र ही समाधि स्वरूप सिद्ध होता है। अतः इस सब कथन से यही सिद्ध होता है कि श्रद्धा के साथ होनेवाले तत्त्वज्ञान से ही कि जो सम्यक् चारित्र से सुरक्षित है संसार के कारण त्रय का-मिथ्या दर्शनादि तीनों का परिक्षय होता है। केवल एक एकान्त ज्ञान से नहीं। इसी प्रकार वैराग्य मात्र से भी संसार के हेतु-मिथ्यादर्शन आदि का प्रलय नहीं हो सकता है। कारण कि किसी मूर्ख तपस्वी में वैराग्य होने पर भी मिथ्याज्ञान का सद्भाव पाया जाता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि तत्त्वज्ञान ही वैराग्य है-वह मूर्ख में नहीं है। अतः उसके अभाव में मूर्ख तपस्वी के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई। वह तो तत्त्वज्ञान से ही होती है। अतः वही संसार के कारणों का प्रतिपक्ष भूत है। सो इस पर यह प्रश्न होता है कि वह तत्त्वज्ञान क्या है ? क्या रागादि दोषों से रहित ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। यदि कहो हां तो इससे यही निकलता है कि ज्ञान में जो रागादि दोष रहितता है वही सम्यक्चारित्र है। अतः तत्त्वों की श्रद्धाके साथ२ होने वाला सम्यक् चारित्र जो तत्त्वज्ञान से सम्पन्न है संसार के कारणों का प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होता है। सिर्फ वैराग्यमात्र नहीं। इसी प्रकार जो सिर्फ सम्यग्दर्शन से शून्य ज्ञान और वैराग्य इन दोनों की एकता को संसार के कारणों का प्रतिद्वन्द्वी मानते हैं उनकी मान्यता भी ठीक नहीं है। कारण कि तत्त्वों के श्रद्धान से शून्य वे दोनों संसार कारणों के प्रतिपक्ष न स्वयं संसार के ही हेतु होते हैं। ज्ञान में तत्त्वज्ञानता एवं वैराग्य में समीचीनता

इस तत्त्व श्रद्धा विशेष से ही आती है। जो वैराग्य तत्त्व श्रद्धा से शून्य होता है--वह वैराग्य नहीं किन्तु वैराग्याभास है। अतः यह मानना चाहिये कि जब संसार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र हैं---तो इनके प्रतिपक्षभूत धर्म भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप तीन ही होना चाहिये। एक या दो नहीं। तभी जाकर इनकी उनसे निवृत्ति हो सकती है। यदि इस पर यों कहा जाय कि है तो एक मिथ्याज्ञान ही--परन्तु संसार का कारण वह तभी होता है कि जब वह अपने परिकर के साथ होता है। उसके परिकर विपरीताभिनिवेश और विपरीताचरण होने की शक्तियां हैं। तो भाई साहब! इस कथन से भी तो यही सिद्धान्त पुष्ट होता दिखता है कि तत्त्व श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) रूप शक्ति एवं सम्यक् आचरण रूप शक्ति से युक्त तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान का निवर्तक होता है। जिस प्रकार तत्त्वों को विपरीत प्रकाशन करने रूप शक्ति से युक्त मिथ्याज्ञान में जो संसार का कारण है विपरीताभिनिवेश रूप होने की एवं विपरीत आचरण कराने की शक्ति स्वरूपता है और इसी वजह से उसमें मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकता आती है--उसी प्रकार एक तत्त्वज्ञान में भी कि जो तत्त्वों को प्रकाशन करने की शक्ति रूप है तत्त्वश्रद्धानरूप शक्ति एवं सम्यक् आचरण करने रूप शक्ति से विशिष्टता है। तत्त्व श्रद्धान की शक्ति का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यक् आचरण करने रूप शक्ति का नाम सम्यक्चारित्र है। इस अपेक्षा तत्त्वज्ञान में भी त्रयात्मकता आती

है। अतः यह त्रयात्मकता ही परमात्म-मुक्ति-का मार्ग है। एक तत्त्वज्ञान या सिर्फ वैराग्य या सम्यग्दर्शन निरपेक्ष ये दोनों मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। इसलिये हे नाथ! आपका प्रदर्शित मार्ग अजोड़ है—अपनी सानी का वह आप ही है। इसलिये मेरी भक्ति उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े, जिससे मैं भी उसी मार्ग का आराधना द्वारा पथिक होकर कर्मशत्रुओं की सेना को परास्त करने के लिये शक्तिशाली हो सकूं और मुक्तिपद को पाकर सफल मनोरथ हो जाऊँ। बस हे नाथ! यही मैं पुरस्कार आप की ओर से चाहता हूं।

इस प्रकार युक्त्यनुशासन का अनुवाद समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

विद्वद्वर्ग के प्रति सादर निवेदन

यदि इस अनुवाद में कहीं पर त्रुटि नजर आवे-क्योंकि त्रुटि
रह जाने की सम्भावना है-तो कृपाकर उसे मन्दबुद्धि-जन्य
दोष समझ कर मुझे क्षमा करें और मुझे सूचित करें।
उनका बड़ा भारी उपकार मानूंगा। विशेष इस अनु-
वाद में प्रेरणा प्रदान करने वाले श्री प्र.का.क.अ.से.
श्री महावीर के सदस्यगण श्रीमान् सेठ स्वर्गीय
रामचन्द्रजी खिन्दूका एवं विद्वद्वर्य पं. चैनसुखदासजी
का मैं सदा आभारी रहूंगा। इन्हीं की कृपा से
यह अनुवाद कार्य समाप्त कर सका हूँ।
स्व. श्रीमान् सेठ रामचन्द्रजी खिन्दूका
इस अनुवाद को पूर्ण नहीं देख
सके, इसका मुझे दुःख है।
अस्तु परमात्मा दिवंगत
आत्मा को शान्ति
प्रदान करें।